इकाई 7
द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद का विश्व

1. शीत–युद्ध एवं सोवियत संघ का विखण्डन
2. गुट–निरपेक्ष आन्दोलन : भारत का योगदान और इसकी विफलता के कारण
3. आधुनिक विश्व व इसके समक्ष चुनौतियाँ : पर्यावरण एवं आतंकवाद
4. वर्तमान भारत की वैश्विक दृष्टि : लुक ईस्ट, ब्रिक्स और दक्षेस

प्रथम विश्व–युद्ध (1914–1919 ई.) के पश्चात् राष्ट्रसंघ की स्थापना के प्रकाश में यह आशा की गई थी कि इतिहास के माथे पर लगे इस कलंक से सभ्य मानव यह सबक लेगा कि अब इस तरह का विनाश फिर कभी नहीं होगा। खेद का विषय है कि स्वयं को सभ्य कहने वाले मानव ने इस विनाश से कोई सबक नहीं लिया और कुछ वर्षों के बाद ही विनाश की एक और लीला द्वितीय विश्व–युद्ध (1939–1945 ई.) के रूप में रची गई।

द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना करके आधुनिक युग के सभ्य मानव द्वारा पुनः यह संकल्प लिया गया कि तृतीय विश्व–युद्ध के रूप में इस तरह की विनाश–लीला भविष्य में कभी नहीं रची जाएगी। अपने संकल्प पर वह इतना ही ख़रा उतरा है कि उसने अब तक घोषित रूप में तृतीय विश्व–युद्ध नहीं होने दिया, अन्यथा द्वितीय विश्व–युद्ध की समाप्ति से लेकर आज तक विश्व में युद्ध की इतनी घटनाएँ घट चुकी हैं कि इस बात का कोई अर्थ नहीं रह गया है कि अब तक तृतीय विश्व–युद्ध हुआ है अथवा नहीं हुआ है।

निश्चय ही द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् विश्व में विश्व–युद्ध की ऐसी कोई बड़ी घटना नहीं घटी है, जिसमें उल्लेखनीय रूप से अनेक देश एक साथ सम्मिलित हुए हों – लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इस समय विश्व में शांति बनी रही है। वस्तुतः प्रत्यक्ष युद्ध का न होना शांति का होना नहीं है। प्रत्यक्ष युद्ध के न होने की स्थिति में यदि देशों के मध्य सद्भावना, सहयोग व सौहार्द का अभाव है और वे अपने आगारों में शस्त्रास्त्र एकत्र करने, अपने पक्ष में गुटबंदी करने व प्रतिस्पर्द्धी के विषय में दुष्प्रचार करने जैसे कुकृत्यों में निमग्न रहते हैं, तो बिलकुल नहीं कहा जा सकता कि उनके बीच शांति बनी हुई है।

दो या दो से अधिक देशों के मध्य युद्ध न होते हुए भी शांति का न होना और हर समय युद्ध होने की आशंका बने रहना किसी भी सूरत में मानवता के हित में नहीं हो सकता। द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् पूँजीवादी देश संयुक्त राज्य अमेरिका व साम्यवादी देश सोवियत संघ के मध्य गम्भीर प्रतिस्पर्द्धा का दौर चला। इन देशों के मध्य प्रत्यक्ष रूप से कोई सैन्य युद्ध तो नहीं हुआ, परंतु परोक्ष रूप से वे उन सभी गतिविधियों में संलग्न रहे, जिनमें सामान्यतया युद्धरत राष्ट्र रहते हैं। सोवियत संघ के विखण्डन (1989 ई.) तक 'सशस्त्र शांति' अथवा 'शीत–युद्ध' की यह स्थिति बनी रही। सोवियत संघ के विखण्डन के साथ ही संयुक्त राज्य अमेरिका के सामने अंतर्राष्ट्रीय जगत में कोई बड़ी चुनौती नहीं रही।

1. शीत–युद्ध एवं सोवियत संघ का विखण्डन

द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार करें, तो स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि अमेरिका व सोवियत संघ, इन दो देशों, ने दुनिया को एक अखाड़े में तबदील करने में कोई कमी नहीं छोड़ी। यद्यपि द्वितीय विश्व–युद्ध के पूर्व भी इन देशों के बीच सहयोग व सौहार्द की कोई विशेष भावना विद्यमान नहीं थी, लेकिन युद्ध के दौरान अपने हितों की पूर्ति के लिए एक–दूसरे की मित्रता स्वीकार करना उनकी विवशता थी। जैसे ही युद्ध समाप्त हुआ, दोनों देशों ने मित्रता का लबादा उतार फेंका और वे एक–दूसरे को नीचा दिखाने में जुट गए। इस अशांति का परिणाम कालांतर में

दुनिया के समक्ष सोवियत संघ के विखण्डन के रूप में सामने आया।

अ. शीत–युद्ध

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में देशों के मध्य कटुतापूर्ण सम्बंधों के परिप्रेक्ष्य में 'शीत–युद्ध' जैसी संज्ञा का प्रयोग सबसे पहले ब्रिटिश लेखक जार्ज ऑरवैल ने किया। द्वितीय विश्व–युद्ध के दौरान 1945 ई. में जापान के दो नगरों – हिरोशिमा और नागासाकी – पर जब अमेरिका ने अणुबम गिराए, तब ऑरवैल ने अपने एक निबंध में 'कोल्ड वार' अर्थात् 'शीत–युद्ध' की संकल्पना प्रकट की।

जहाँ तक द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् अमेरिका व रूस के मध्य चली प्रतिस्पर्द्धा के सम्बन्ध में 'शीत–युद्ध' संज्ञा के प्रयोग का विषय है, सबसे पहले अमेरिका के पूँजीपति–राजनीतिज्ञ बर्नार्ड मैंस बरुछ ने 1947 ई. में अपने एक भाषण में इसे काम लिया, लेकिन अकादमिक जगत में विधिवत रूप से इस संज्ञा का प्रयोग अमेरिका के ही लेखक–पत्रकार वाल्टर लिपमैन ने अपनी पुस्तक 'कोल्ड वार' में किया।

इतिहासवेत्ताओं द्वारा इस संघर्ष का एक और पक्ष सामने रखा गया, जिसके अनुसार शीत–युद्ध की स्थिति उस समय विश्व–मंच पर उभर रही दो प्रतिरोधी विचारधाराओं के टकराव के कारण उत्पन्न हुई थी। एक विचारधारा पूँजीवादी विचारधारा थी, जिसका नेतृत्व अमेरिका कर रहा था और दूसरी विचारधारा साम्यवादी विचारधारा थी, जिसका नेतृत्व रूस कर रहा था। पूँजीवादी विचारधारा कथित रूप से उदारधर्मा लोकतंत्र की प्रतीक बनी हुई थी, वहीं साम्यवादी विचारधारा अपने घोषित रूप में सर्वाधिकारवादी जनतंत्र की समर्थक थी। शीत–युद्ध की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए एम. एस. राजन कहते हैं कि शीत–युद्ध देशों के मध्य शक्ति के संघर्ष, विचारों की भिन्नता, जीवन–पद्धति में भेद और राष्ट्रीय हितों के टकराव का मिला–जुला परिणाम था – जिसकी तीव्रता देश, काल व परिस्थिति के अनुसार न्यूनाधिक होती रही।

अमेरिका व रूस के मध्य सशस्त्र शांति की यह जो स्थिति उत्पन्न हुई थी, वास्तविक रूप में तो यह दोनों ही देशों द्वारा दुनिया की एक मात्र महाशक्ति बनने की लालसा के कारण उत्पन्न हुई थी।

i-शीत–युद्ध से तात्पर्य

जब दो देश परस्पर अविश्वास, संदेह, दुष्प्रचार व षड्यंत्र की राजनीति के शिकार होकर क्षेत्रीय–अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर बार–बार यह चेतावनी देते हों कि यदि उनके हितों की रक्षा नहीं हुई, तो युद्ध हो जाएगा। तब यह समझ लेना चाहिए कि वे 'शीत–युद्ध' की स्थिति में हैं।

अमेरिका व सोवियत रूस के मध्य चले शीत–युद्ध की पृष्ठभूमि को समझाने के लिए भले ही राजनीति के अध्येताओं द्वारा उनके बीच चले वैचारिक टकराव का अवलम्बन लिया गया हो – संघर्ष का वास्तविक कारण तो दुनिया की महाशक्ति बनने की उनकी तीव्र उत्कण्ठा ही था। यदि शीत–युद्ध में विचार–व्यवहार का संघर्ष बहुत अधिक अर्थ रखता, तो अमेरिका व रूस विश्व–युद्ध के दौरान कभी एक ही नाव पर सवार नहीं हुए होते। दुनिया की महाशक्ति बन जाने की तीव्र लालसा ने ही अमेरिका व रूस को दो अलग–अलग विचारधाराओं का नेतृत्व करने का अवसर दिया, जिनका इस्तेमाल वे अपने–अपने गुट को मज़बूत करने में करते थे।

शीत–युद्ध को परिभाषित करते हुए लुई हाले ने लिखा है, "शीत–युद्ध परमाणु–युग में इस प्रकार की तनावयुक्त स्थिति है, जो शस्त्रास्त्र–युद्ध से पूर्णतया भिन्न – लेकिन उससे अधिक भयानक है।" हाले का मत है कि शीत–युद्ध ने दुनिया की समस्याओं को इस तरह से उलझा दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर विभिन्न देश अमेरिका व सोवियत संघ द्वारा मोहरों की तरह इस्तेमाल किए जाने लगे थे।

ii-शीत–युद्ध के विभिन्न चरण : प्रमुख घटनाएँ

द्वितीय विश्व–युद्ध के दौरान अमेरिका व रूस मिलकर तो काम कर रहे थे, किंतु दोनों देशों में आपसी विश्वास का पूरी तरह अभाव था। युद्ध में जब जर्मनी ने रूस को अत्यधिक क्षति पहुँचाई, तो रूस के नेता स्टालिन ने अमेरिका के नेता रुजवेल्ट व ब्रिटेन के नेता चर्चिल से आग्रह किया कि वे जर्मनी के विरुद्ध एक नया मोर्चा खोल दें, ताकि रूस को कुछ राहत मिले। जब रुजवेल्ट व चर्चिल कई माह तक इस आग्रह को टालते रहे, तब स्टालिन समझ गया कि ये लोग 1917 ई. की बोल्शेविक क्रांति के पश्चात् उभरे शक्तिशाली रूस को नष्ट होते देखना चाहते हैं।

जैसे ही युद्ध अपने अंत की ओर बढ़ने लगा, रूस ने युद्ध के दौरान हुए विभिन्न समझौतों का उल्लंघन प्रारम्भ कर दिया। उसने पोलैण्ड, हंगरी, बल्गारिया, रोमानिया, चेकोस्लोवाकिया आदि क्षेत्रों में किसी भी क़ीमत पर अपना साम्यवादी ध्वज फहराने का जैसे हठ ही पकड़ लिया था। रूस ने ईरान से अपनी सेना नहीं हटाई और तुर्की पर भी दबाव बना लिया।

उधर अमेरिका और ब्रिटेन ने 1945 ई. में एक विज्ञप्ति प्रसारित की कि दुनिया में तानाशाही के एक स्वरूप के अंत के पश्चात् उसके दूसरे स्वरूप के संस्थापन को गम्भीरता से रोका जाना चाहिए। 1946 ई. में अमेरिका के फुल्टन में दिए एक भाषण में तो ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल ने यहाँ तक कह दिया कि दुनिया में स्वतंत्रता की लौ जलाए रखने और ईसाई सभ्यता की रक्षा करने के लिए ब्रिटिश–अमेरिकी सहयोग की तीव्र आवश्यकता है।

कुछ माह पश्चात् रूस ने 1948 ई. के लंदन प्रोटोकाल का उल्लंघन करते हुए बर्लिन की नाकाबंदी कर दी। अपने निषेधाधिकार (वीटो) का प्रयोग करते हुए उसने संयुक्त राष्ट्र संघ (यूएनओ) को भी अपने स्वार्थ की पूर्ति का साधन बनाया। बदले में अमेरिका ने सोवियत संघ को दी जाने वाली आर्थिक सहायता रोक दी। इसके अतिरिक्त दोनों देशों ने एक–दूसरे के विरुद्ध दुष्प्रचार का जो अभियान चलाया, वह भी शीत–युद्ध को भड़काने का एक बड़ा कारण बना। शीत–युद्ध की प्रमुख घटनाओं को विभिन्न चरणों में विभाजित करके सरलता से समझा जा सकता है।

प्रथम चरण : 1917–1945 ई.

परोक्ष रूप से तो शीत–युद्ध का प्रारम्भ 1917 ई. में ही तब हो गया था, जब रूस में बोल्शेविक क्रांति हुई। यद्यपि इस समय तक शीत–युद्ध जैसी कोई संकल्पना विश्व के समक्ष नहीं आई थी, परन्तु ब्रिटेन व अमेरिका जैसे देश यह अच्छी तरह जान गए थे कि अब रूस अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर एक ऐसे नेता के रूप में उभर चुका है, जो पूँजीवादी शासन के विरुद्ध संघर्ष कर रही शक्तियों को प्रश्रय देगा और विभिन्न देशों में अपनी समर्थक सरकारों की स्थापना करेगा। साथ ही जब अमेरिका के साथ रूस ने 1920 ई. में व्यापारिक समझौते करने चाहे, तो अमेरिकी शासन ने उस पर कठोर शर्तें आरोपित की।

ब्रिटेन में लेबर पार्टी की सरकार होने के कारण उसने तो 1924 ई. में सोवियत संघ को मान्यता दे दी थी, लेकिन अमेरिका ने यह कार्य अनेक वर्षों के पश्चात् 1933 ई. में किया। सोवियत सेनाओं द्वारा पूर्वी यूरोपीय देशों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने, जर्मनी द्वारा इटली में आत्म–समर्पण के समझौते की शर्तों पर रूस द्वारा अलग राय रखने, जापान पर बम गिराने के अमेरिकी कृत्य का रूस द्वारा विरोध करने जैसे अनेक विषय थे – जिनके प्रकाश में शीत–युद्ध की भूमिका रची गई।

द्वितीय चरण : 1946–1953 ई.

चर्चिल के फुल्टन–भाषण ने समस्त यूरोप में सोवियत संघ के विरुद्ध गम्भीर प्रतिक्रिया का वातावरण निर्मित कर दिया। इस भाषण के ठीक एक वर्ष पश्चात् अमेरिकी राष्ट्रपति हैनरी ट्रूमैन ने सोवियत संघ की ओर संकेत करते हुए स्पष्ट घोषणा की कि प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से विश्व में किसी के द्वारा और कहीं भी शांति भंग करने का कोई भी कृत्य हुआ, तो उससे अमेरिका की सुरक्षा ख़तरे में मानी जाएगी। ट्रूमैन ने सिद्धांत दिया कि दुनिया के विभिन्न देशों को साम्यवादी शिविर में जाने से रोकने के लिए उन्हें आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए। अमेरिका के विदेश सचिव मार्शल ने भी इस सिद्धान्त का पूरा समर्थन किया। उल्लेखनीय है कि 1948 से 1952 ई. में मध्य अमेरिका ने पश्चिमी यूरोप के विभिन्न देशों के लिए 12 अरब डालर की आर्थिक सहायता स्वीकृत की। इस समय अमेरिका की सबसे बड़ी शक्ति यही थी कि वह सैनिक के साथ–साथ आर्थिक दृष्टि से भी एक सुसम्पन्न राष्ट्र था। जिन देशों को वह सहायता प्रदान करता, उनके प्रति उसकी प्रथम व्यवस्था यही होती थी कि साम्यवाद को उस देश में अवरोधित किया जाएगा।

उधर सोवियत संघ भी शांत नही बैठा था। 1948 ई. में उसने बर्लिन की नाकाबन्दी कर दी और जर्मनी के पश्चिमी भाग का समस्त जल–थल यातायात अवरुद्ध कर दिया। यद्यपि बाद में उसे यह नाकाबन्दी हटानी पड़ी, लेकिन इससे ब्रिटेन, फ्रांस व अमेरिका को अपने अधीनस्थ जर्मन–क्षेत्रों को मिलाकर पश्चिमी जर्मनी नामक नया राष्ट्र उदित करना पड़ा। प्रत्युत्तर में रूस ने भी अपने प्रभाव के जर्मन–क्षेत्र को पूर्वी जर्मनी नाम दे दिया। यह शीत–युद्ध के भड़कने का दौर था।

1949 ई. में अमेरिका के नेतृत्व में उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन 'नाटो' के रूप में एक सैन्य बल बनाया गया। 'नाटो' के माध्यम से सोवियत संघ को सावधान किया गया कि अगर वह इस संगठन के किसी एक सदस्य पर भी आक्रमण करेगा, तो अपने लिए संकट को ही आमन्त्रित करेगा।

1949 ई. में ही चीन में भी साम्यवादी शासन स्थापित हुआ, जिसकी संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थायी सदस्यता के प्रश्न को लेकर अमेरिका व रूस में कटुता और अधिक बढ़ गई। यह कटुता तब पूर्णतया वैमनस्य में परिवर्तित हो गई, जब 1950 ई. में साम्यवादी शिविर के देश उत्तरी कोरिया ने पूँजीवादी शिविर के देश दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ में रूस की अनुपस्थिति का लाभ उठाते हुए अमेरिका ने उत्तरी कोरिया को आक्रान्ता देश घोषित करवा दिया और संयुक्त राष्ट्र संघ के ध्वज तले ही अपनी सेना के नेतृत्व में, चीन और सोवियत संघ की सहायता से लड़ रहे उत्तरी कोरिया के विरुद्ध, दक्षिणी कोरिया का साथ दिया। यह युद्ध शीत–युद्ध की पराकाष्ठा था, जिसमें अमेरिका व सोवियत संघ अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध के मैदान में सक्रिय हुए। इसी कड़ी में अमेरिका ने जापान के साथ एक शांति–संधि पर हस्ताक्षर किए, जो सोवियत संघ के लिए अत्यधिक कष्टप्रद थी।

तृतीय चरण : 1953–1958 ई.

1953 ई. में रूसी नेता स्टालिन की मृत्यु हो गई। उसके स्थान पर ख्रुश्चेव के हाथ में नेतृत्व आया, जो अपेक्षाकृत समझौतावादी स्वभाव का व्यक्ति था। दूसरी ओर अमेरिका में भी ट्रूमैन का स्थान आइजनहावर ने ले लिया, जिससे विश्व के शांति–प्रेमियों को मध्यममार्गीय दृष्टिकोण अपनाने की आशा थी। इसी बीच 1953 ई. में ही सोवियत संघ ने आणविक परीक्षण किया, जो अमेरिका को और अधिक शंकित करने के लिए पर्याप्त था। चर्चिल के सुझाव पर आइजनहावर ने 1954 ई. में दक्षिणी–पूर्वी एशिया में रूसी प्रसार रोकने के लिए नाटो की तरह ही 'सीटो' – दक्षिणी–पूर्वी एशिया संधि संगठन – नामक संस्था गठित करवाई।

प्रत्युत्तर में सोवियत संघ तथा उसके मध्य व पूर्वी यूरोप

के आठ साथी राष्ट्रों ने मिलकर 1955 ई. में 'वारसा पैक्ट' घोषित किया। पोलैण्ड के वारसा नामक स्थान पर किया गया यह समझौता औपचारिक रूप से 'मित्रता, सहयोग और पारस्परिक सहायता हेतु संधि' कहलाता है। वारसा पैक्ट स्पष्टतः 'नाटो' का प्रत्युत्तर था। कशमकश के इसी दौर में 1956 ई. में सोवियत संघ ने हंगरी में हस्तक्षेप किया, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में अभिवृद्धि हुई। इस तनाव की परिणति आइजनहावर–सिद्धान्त के रूप में सामने आई। 1957 ई. में आइजनहावर ने अमेरिकी सीनेट में यह प्रस्ताव पारित करवा लिया कि मध्य–पूर्व में यदि कहीं भी साम्यवादी आक्रमण होता है, तो राष्ट्रपति को यह विवेकाधिकार है कि वह वहाँ सेना भेज सकता है। इससे शीत–युद्ध इतना उग्र हो गया कि विश्व के शांतिप्रिय लोग इस आशंका से घिर गए कि अब विनाश के तीसरे प्रयोग अर्थात् एक और विश्व–युद्ध की घड़ी निकट आ गई है।

1955 ई. से 1958 ई. तक शीत–युद्ध पश्चिमी एशिया में अपने प्रचण्ड रूप में सामने आ चुका था। जब स्वेज़ नदी का राष्ट्रीयकरण हुआ और मिस्र पर 1956 ई. में ब्रिटिश–फ्राँसीसी और इजराइली आक्रमण हुआ, तो सोवियत संघ ने इसकी तीव्र आलोचना की। पश्चिमी एशिया के सामरिक महत्त्व और वहाँ की अपार तैल–सम्पदा को देखते हुए दोनों ही खेमे गुटबंदी में सक्रिय हो गए।

चतुर्थ चरण : 1959–1962 ई.

1959 ई. में जब सोवियत नेता ख्रुश्चेव ने अमेरिका की यात्रा की और अपने समकक्ष आइजनहावर को अपने देश आने का निमंत्रण दिया, तो विश्व में शांति की आशा का संचार हुआ – लेकिन सौहार्द की यह भावना, जिसे 'कैम्प डेविड भावना' कहा गया, अधिक दिनों तक बनी नहीं रही। मई, 1960 में चार अग्रणी राष्ट्रों के शासनाध्यक्ष पेरिस में मिलते, उससे पूर्व ही अमेरिका का एक गुप्तचर विमान यू–टू सोवियत संघ की सीमा में जासूसी करते हुए पकड़ा गया। राष्ट्रपति आइजनहावर ने चोरी और ऊपर से सीनाज़ोरी करते हुए न केवल इस गुप्तचरी को सही बताया, अपितु यह भी कहा कि अमेरिका भविष्य में भी ऐसा करता रहेगा। इस घटना से मई, 1960 ई. के शिखर–सम्मेलन की विफलता निश्चित हो गई। यहाँ तक कि ख्रुश्चेव ने आइजनहावर से हाथ मिलाने से भी इंकार कर दिया।

1966 ई. में ही जॉन एफ़. कैनेडी को अमेरिका का राष्ट्रपतित्व प्राप्त हुआ। कैनेडी ने साम्यवाद के प्रति सहयोग की भावना प्रकट की, परन्तु कुछ ही दिनों में उसे ख्रुश्चेव को इस हेतु चेतावनी देनी पड़ी कि सोवियत रूस पूर्वी जर्मनी के साथ किसी प्रकार की एकमार्गी संधि करने की भूल न करे। ख्रुश्चेव ने पूर्वी जर्मनी के साथ तो पृथक संधि नहीं की, लेकिन क्यूबा के साम्यवादी नेता फ्रीडेल कास्त्रो को भरपूर सहायता देनी प्रारंभ कर दी। अमेरिका अपनी सीमा पर स्थित किसी देश में स्थापित हुए सोवियत संघ के सैन्य ठिकानों को सहन नहीं कर सकता था। कैनेडी ने स्पष्ट घोषणा की कि क्यूबा के विषय में युद्ध ही एक श्रेष्ठ विकल्प है, तो ख्रुश्चेव ने समझदारी प्रकट करते हुए क्यूबा से अपने सैनिक ठिकाने हटा लिए।

पंचम चरण : 1963–1979 ई.

क्यूबा से जब ख्रुश्चेव ने अपने सैन्य शिविर हटा लिए, तब कैनेडी ने इस निर्णय को 'एक महान राजनीतिज्ञ का निर्णय' बताया। उस समय एक बार पुनः यह आशा जगी थी कि युद्ध की आशंकाओं के उमड़ते–घुमड़ते बादल अब हमेशा के लिए छँट जाएँगे, क्योंकि ख्रुश्चेव व कैनेडी दोनों ही नेता अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने की दिशा में कार्य करते हुए दिखाई दे रहे थे। 1963 ई. में ही दोनों देशों ने हॉटलाइन समझौता किया, जिसके तहत किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संकट के समय दोनों देश रेडियो व दूरभाष के माध्यम से सीधे सम्पर्क में रहेंगे। 1968 ई. में सोवियत संघ व अमेरिका 'परमाणु अप्रसार संधि' पर हस्ताक्षर करने वाले देशों में अग्रणी थे। इसी क्रम में सोवियत संघ का 1970 ई. में पश्चिमी जर्मनी के साथ एक समझौता हुआ, जिसके अन्तर्गत वर्तमान स्थिति को स्वीकार करते हुए भविष्य में किसी प्रकार के शक्ति–प्रयोग को नकारा गया। जर्मनी के विषय में ही 1971 ई. में अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रिटेन व फ्रांस के मध्य एक समझौता हुआ – जिसके अनुसार पश्चिमी व पूर्वी बर्लिन के लोग एक दूसरे के सीमा–क्षेत्र में प्रवेश कर सकेंगे। 1972 ई. में पश्चिमी व पूर्वी जर्मनी ने कुटनीतिक कड़वाहट को कम करते हुए घोषणा कर दी कि भविष्य में कोई संघर्ष नहीं होगा और दोनों देश एक–दूसरे को मान्यता देंगे। इससे शीत–युद्ध कमज़ोर हो गया। इसी कड़ी में 1973, 1974 व 1977 ई. में तीन यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन हुए, जिनमें पारस्परिक सहयोग व शांति का मार्ग तलाश करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई।

षष्ठम् व अंतिम चरण : 1980–1990 ई.

अब तक यह तो स्पष्ट हो चुका था कि महाशक्तियों में प्रत्यक्ष यौद्धिक संघर्ष की आशंका नहीं के बराबर रह गई है। फिर भी यह करने का उचित समय अभी नहीं आया था कि शीत–युद्ध समाप्त हो गया है। हाँ, इतना अवश्य है कि तूफान का दौर गुज़र चुका था और शीत–युद्ध युद्ध के अतिरिक्त अन्य माध्यमों द्वारा संघर्ष की नीति के रूप में जीवित भर था। वस्तुतः अब 'तनाव–शैशिल्य' या 'दितान्त' का दौर आ गया था। 'दितान्त' फ्राँसीसी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ 'तनाव का ढ़ीला पड़ना' होता है। यदि दो राज्यों के तनावपूर्ण संबंधों में कमी आ जाए और वे शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व की भावना से कार्य करने के लिए तैयार हो जाएँ, तो यह दितान्त की आदर्श स्थिति होती है। 'दितान्त' का यह अर्थ कदापि नहीं निकाला जाना चाहिए कि दो देशों के मध्य तनाव पूर्णतया समाप्त हो गया है। असल में यह अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविकताओं के परिप्रेक्ष्य में शांति–स्थापना के लिए दो राज्यों द्वारा किया गया पारस्परिक संकल्प है, जो कभी भी टूट सकता है।

इस समय अमेरिका व सोवियत संघ दोनों ही राष्ट्रों को यह अनुमान हो गया था कि यदि शीत–युद्ध वास्तविक युद्ध में परिवर्तित हो गया – तो यह विश्व पूरी तरह नष्ट हो जाएगा, क्योंकि परमाणु आयुधों के प्रयोग की सीमा–निर्धारित नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त दोनों ही देश आर्थिक रूप से इस स्थिति में नहीं थे कि आपस में संघर्ष भी करते रहें और साथ में जन–कल्याण भी करते रहें। इसके अतिरिक्त दोनों ही महाशक्तियों को गुट–निरपेक्ष आंदोलन में भी संभावनाएँ दिखाई दे रही थीं। उनके अपने गुट–सापेक्ष मित्र भी उनका सहयोग करने के लिए पूर्व की तरह तैयार दिखाई नहीं दे रहे थे। फिर भी दोनों महाशक्तियों ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अपना अलग–अलग पक्ष बनाए रखा। शीत–युद्ध के इस काल को 'द्वितीय शीत–युद्ध' अथवा 'नवीन शीत–युद्ध' कहा जाता है।

1971 ई. के भारत–पाकिस्तान संघर्ष में अमेरिका ने पाकिस्तान का व सोवियत संघ ने भारत का साथ दिया। 1975 ई. में अंगोला में दोनों पक्ष विरोधी ताक़तों की ओर से सक्रिय रहे। 1977 ई. में इथियोपिया–सोमालिया टकराव के दौरान भी यही हुआ। रूस ने इथियोपिया को हथियार उपलब्ध करवाए, तो अमेरिका ने सोमालिया की सहायता की। 1979 ई. में अफ़ग़ानिस्तान में सोवियत संघ के हस्तक्षेप को लेकर अमेरिका के राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने उसे विश्व–शांति के लिए संकट बताया। 1983 ई. में सोवियत संघ ने दक्षिणी कोरिया का विमान मार गिराया, तो अमेरिका ने तीव्र प्रतिक्रिया की। 1983 ई. में ही संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के अधिवेशन में भाग लेने हेतु सोवियत संघ के विदेश मंत्री आंद्रेई ग्रोमिको को अमेरिका ने आवश्यक सुरक्षा देने से मना कर दिया, तो सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्यालय को अमेरिका से हटाए जाने का मुद्दा ही उठा दिया।

इस प्रकार 'दितान्त' के चलते भी पूर्ण शांति की स्थिति नहीं आई थी। 1986 ई. में अमेरिका के स्टार–वार कार्यक्रम के प्रत्युत्तर में सोवियत संघ ने भी सक्रियता प्रदर्शित की। 1987 ई. में सोवियत संघ ने अपने ऊपर लगाए गए प्रतिबन्ध को तोड़ते हुए न केवल परमाणु–परीक्षण किया, अपितु अमेरिका को धमकी भी दी कि यदि वह हमारे परीक्षण के विरुद्ध परीक्षण करेगा, तो सोवियत संघ पुनः परीक्षण करेगा।

द्वितीय विश्व–युद्ध की समाप्ति से लेकर सोवियत संघ के अवखण्डन तक संयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत संघ दोनों राज्य अपने–अपने पक्ष में गुट बनाकर एक–दूसरे के लिए खाई खोदते रहे, लेकिन एक बात उन्हें ठीक तरह से समझ में आ गई थी कि दुनिया के अधिकतर देश शांति ही चाहते हैं और यदि वे दोनों में से किसी एक गुट में सम्मिलित हैं, तो अपनी किसी न किसी विवशता के कारण ही हैं। जर्मनी के नागरिकों ने 1989 ई. में विभाजन को अप्रासंगिक घोषित कर दिया और बर्लिन की दीवार को ढहाकर दोनों जर्मनियों को एक कर दिया। उधर वारसा पैक्ट भी समाप्त कर दिया गया।

एक ओर पूर्वी यूरोप में साम्यवाद के किले खण्डित होते जा रहे थे, तो दूसरी ओर सोवियत संघ में आर्थिक संकट इतना अधिक गहरा गया था कि वह अमेरिका से संघर्ष करने की क्षमता ही खो बैठा। सोवियत संघ के राष्ट्रपति मिखाइल गोर्वाच्योव के काल में शीत–युद्ध समाप्त हो गया।

बर्लिन की दीवार – पहले।

बर्लिन की दीवार – बाद में।

I-शीत–युद्ध के परिणाम

शीत–युद्ध का बीजारोपण तो 1917 ई. हुई रूसी क्रांति के साथ ही हो गया था, लेकिन यह अपने पूरे प्रभाव में बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में ही आया, जब द्वितीय विश्व–युद्ध समाप्त हो चुका था और दुनिया को अपने साम्राज्यवादी प्रभाव में लेने हेतु अमेरिका व रूस परस्पर अविश्वास, संदेह, दुष्प्रचार और षड्यंत्रों की घटिया राजनीति करने में उलझे हुए थे। द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद की आधी शताब्दी का विश्व–इतिहास हमें शीत–युद्ध की धुरी पर ही घूमता हुआ दिखाई देता है।

शीत–युद्ध से पूर्व शक्ति–सन्तुलन की धारणा प्रत्यक्ष रूप से सैन्य–बल पर आधारित थी, परन्तु शीत–युद्ध के फलस्वरूप वास्तविक शक्ति–सन्तुलन आतंक के सन्तुलन का रूप ले चुका था। दोनों में से कौनसी महाशक्ति अपने उग्र क्रिया–कलापों द्वारा विश्व के देशों को कितना अधिक आतंकित रखती है, यह एक चिन्ता का विषय हो गया था। शीत–युद्ध कब तप्त–युद्ध का रूप धारण कर लेगा, कोई नहीं जानता था। गंभीरता से विचार किया जाए, तो शीत–युद्ध का सबसे बेहतर परिणाम यही है कि यह शीत–युद्ध के रूप में ही समाप्त हो गया। यद्यपि इसके दौरान हुए प्रत्यक्ष युद्धों में विश्व में जो जान–माल की क्षति हुई, अगर उसका आकलन किया जाए – तो समझ में आता है कि शीत–युद्ध ने किसी भी विश्व–युद्ध के मुक़ाबले कम विनाश नहीं किया है। जहाँ तक विश्व–राजनीति का प्रश्न है, उस पर शीत–युद्ध का जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा, वह था सोवियत रूस का विखण्डन। इस विखण्डन के पश्चात् विश्व एकध्रुवीय हो गया।

साथ ही शीत–युद्ध ने संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संभावनाशील अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को जो आघात पहुँचाया, उसका मूल्यांकन करना बहुत कठिन है। जिस संस्था को विश्व–कल्याण के रचनात्मक मार्ग की ओर अग्रसर होना था, वह संस्था दो महाशक्तियों की अपूरित महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति का अड्डा बन गई। समस्त संसार ने देखा कि सुरक्षा–परिषद् में निषेधाधिकार (वीटो) के प्रयोग को किस तरह एक प्रहसन का रूप दे दिया गया। शीत–युद्ध के दौर में मुख्यतः यूरोप और अमेरिका में जन्मी पीढ़ियों का विकास जिस भय, सन्देह और अनिश्चितता के वातावरण में हुआ – उससे मानवता सकारात्मक व रचनात्मक दिशा में आगे बढ़ने से वंचित हो गई। आशा की जानी चाहिए कि मानव–जाति का भविष्य न केवल तप्त अथवा शीत–युद्ध, बल्कि किसी भी प्रकार के युद्ध से रहित होगा।

ii-भारत की स्थिति

शीत–युद्ध के दौर में ही भारत ने अपनी स्वतन्त्रता अर्जित की। 1947 ई. में ही भारत के नेतृत्व के समक्ष यह दुविधा उत्पन्न हो गई थी कि उसे किस गुट में सम्मिलित होना चाहिए। भारत के संस्कार उसे पूरी तरह पूँजीवाद के नायक देश अमेरिका की ओर नहीं झुका सकते थे, क्योंकि हमारे संस्कार किसी इस कृत्य की पुष्टि नहीं करते कि कोई एक तो धन को संग्रहीत करके उस पर कुण्डली मारकर बैठ जाए और दूसरा न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी तरसता रहे।

ऋग्वेद के दसवें मंडल में कहा गया है –

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी।।

इस मंत्र का निहितार्थ यह है कि अकेला खाने वाला व अन्यों को भोजनादि से वंचित रखने वाला वास्तव में पाप ही खाता है। ऐसा स्वार्थी व्यक्ति न तो स्वयं को पोषित करता है और न ही अपने मित्रों को। स्वामी विवेकानंद ने इसी विचार को अभिव्यक्ति देते हुए कहा था कि जब तक एक श्वान भी भूखा है, धर्म अनुमति नहीं देता कि इंसान अपना पेट भरे।

दूसरी ओर भारतीय धर्म व्यक्ति को हर उस कृत्य में भी संलिप्त होने से रोकता है, जिसमें किसी पवित्र साध्य को हासिल करने के लिए अपवित्र साधनों का इस्तेमाल किया जाता है। अतः हमारे लिए असंभव था कि हम रक्त बहाकर तथाकथित सामाजिक समानता स्थापित करने का दिवास्वप्न दिखाने वाले सोवियत संघ के अनुगामी हो जाते।

तत्कालीन भारतीय राजनैतिक नेतृत्त्व यह अच्छी तरह जानता था कि हाल ही में स्वतंत्र हुए भारत के संस्कारवान लोग पूँजीवाद व साम्यवाद – इन दोनों ही अतिवादी विचारधाराओं में से किसी भी विचारधारा को पसंद नहीं करेंगे। अतः भारत ने इन दोनों विचारधाराओं के समानांतर चल रही एक तीसरी विचारधारा 'गुट–निरपेक्षता' को चुना, जिसे मिस्र व यूगोस्लाविया जैसे अन्य देश भी पसंद करते थे।

यह तीसरी विचारधारा 'गुट–निरपेक्षता' अपने आप में एक बड़ा आंदोलन बनकर उभरी, लेकिन अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवशताओं के चलते इस आंदोलन को चलाने वाले देशों के लिए बहुत कठिन था कि वे पूरी तरह गुटों से निरपेक्ष रहकर काम कर सकें। अतः उनके लिए देश, काल व परिस्थिति के अनुसार न्यूनाधिक रूप में किसी न किसी गुट की ओर झुकना अनिवार्य हो गया था। इसी परिप्रेक्ष्य में शीत–युद्ध के दौरान भारत का कुछ झुकाव साम्यवादी रूस की ओर रहा।

सोवियत संघ का विखण्डन

आधुनिक विश्व के इतिहास में सोवियत संघ का नाम एक महाशक्ति के रूप में लिया जाता है। 1917 ई. की बोल्शेविक क्रांति से पूर्व रूस में 'ज़ार' का निरंकुश शासन था और व्यवस्था में वे समस्त दोष विद्यमान थे, जो एक राजतन्त्र में होते हैं। 1917 ई. की बोल्शेविक क्रांति की ज्वाला में ज़ार का सिंहासन भस्मीभूत हो गया। अनेक उतार–चढ़ावों के पश्चात् रूस की सत्ता बोल्शेविक दल के नेता ब्लादीमीर इलिच यूलियनाव 'लेनिन' (1870–1924 ई.) के नियन्त्रण में आ गई।

विश्व–रंगमंच पर यह प्रथम महायुद्ध का दौर था, जिसमें रूस भी सम्मिलित था। लेनिन ने मित्र–राष्ट्रों से युद्ध रोक देने का आग्रह किया, जिस पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। अतः लेनिन ने निर्णय लिया कि सोवियत संघ विभिन्न केन्द्रीय शक्तियों के साथ पृथक रूप से संधियाँ करेगा। उसका विचार था कि सोवियत संघ में गृह–शान्ति की स्थापना और

उसके विकास की दिशा में अग्रसर होने का एक ही मार्ग था और वह था हर हाल में विश्व–युद्ध से अलग हो जाने का मार्ग। सारी दुनिया में साम्यवाद का ध्वज फहराने का संकल्प पूरा करने व देश की विकास–योजनाओं को गति देने के लिए पहली शर्त यही थी कि राज्य में शांति स्थापित हो। इस दिशा में उसका प्रथम प्रयास 1918 ई. की ब्रेस्ट लिटोवस्क की संधि के रूप में सामने आया – जो जर्मनी, ऑस्ट्रिया, हंगरी, बल्गारिया और तुर्की के साथ सम्पन्न हुई थी।

इस संधि में हुए लेन–देन के फलस्वरूप सोवियत संघ को जन–धन की बड़ी हानि का सामना करना पड़ा, लेकिन उसकी पहली प्राथमिकता अपने राज्य में शांति व स्थिरता कायम करना थी। वह जानता था कि विदेशी मामलों का निस्तारण किए बिना घरेलू मामले नहीं निपट सकते।

I- पृष्ठभूमि

सोवियत संघ में घरेलू मामलों को निपटाना इतना आसान नहीं था, जितना लेनिन ने समझ रखा था। बोल्शेविकों के उग्र प्रतिक्रियावाद के कारण सोवियत संघ में गृह–युद्ध होना स्वाभाविक था। इसका लाभ उठाकर मित्र–राष्ट्रों ने, जो सोवियत संघ को ठीक तरह से स्थापित होना नहीं देखना चाहते थे, सोवियत सरकार के विरोधियों को प्रश्रय दिया। अंततः इस चुनौतीपूर्ण वातावरण में निरंकुश राजतन्त्र के स्थान पर सोवियत संघ में साम्यवादी जनतंत्र की स्थापना हो गई। अब उसका एक महाशक्ति के रूप में उभरना ही शेष था, जिसके लिए उसका पूँजीवादी राष्ट्रों से संघर्ष होना निश्चित था।

अगले सात दशक तक सोवियत संघ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दो प्रमुख शक्तियों में से एक बना रहा। इस दौरान उसने अमेरिका के साथ शीत–युद्ध का खेल जमकर खेला। अमेरिका की तरह ही सोवियत संघ ने भी अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर जितनी मनमानी की जा सकती थी, उतनी की। यह तो ठीक हुआ कि शीत–युद्ध वास्तविक युद्ध में तबदील नहीं हुआ, अन्यथा विश्व को एक और महायुद्ध भोगना पड़ता। महायुद्ध तो नहीं हुआ, लेकिन सोवियत संघ का पतन अवश्य हो गया। जितनी आशा से रूसियों ने सोवियत संघ का गठन होते देखा था, उतनी ही निराशा से उन्होंने उसका विघटन होते भी देखा।

इतिहासकारों के लिए यह विषय सदैव विवेच्य रहेगा कि कहीं सोवियत संघ का विघटन इसलिए तो नहीं हुआ कि उसके निर्माण में जन–भावनाओं की घोर उपेक्षा की गई और संघ का हिस्सा बने लोगों ने हृदय से कभी उसे स्वीकार नहीं किया था। यदि किसी राष्ट्र का एकीकरण इस वैचारिक आधार पर हुआ हो कि समतामूलक समाज की स्थापना के लिए रक्तपात करना शुभ होता है, तो यह आशा कभी नहीं की जानी चाहिए कि उसका एकीकरण सदियों तक बना रहेगा। सोवियत संघ ने एकीकृत राज्य के रूप में एक सदी का सफ़र भी पूरा नहीं किया। अब संसार में सोवियत साम्यवाद सत्ता के केंद्र के रूप में तो एक तरह से समाप्त ही हो गया है। हाँ, एक विचार के रूप में अब भी वह अध्येताओं के बुद्धि–विलास का एक साधन अवश्य है।

साम्यवाद की विफलता के परिप्रेक्ष्य में कहीं यह निष्कर्ष न निकल लिया जाए कि उसे विफल करने वाला पूँजीवाद पूर्णतया सफल होगा। जिस तरह इतिहास ने सोवियत संघ में साम्यवाद को पतित होते देखा है, उसी प्रकार एकध्रुवीय विश्व का गान सुनकर प्रसन्न होने वाले संयुक्त राज्य अमेरिका को भी यह अवश्य समझ लेना चाहिए कि वह दिन भी आएगा, जब दूसरों को भूखा रखकर खुद का पेट भरने की सीख देने वाले पूँजीवाद की धज्जियाँ उड़ेंगी। असमानता, अन्याय और शोषण पर टिकी कोई भी व्यवस्था – चाहे वह साम्यवाद हो, समाजवाद हो अथवा पूँजीवाद हो, अनिश्चित काल तक नहीं चल सकती।

वस्तुतः दुनिया के अधिकांश राजनैतिक व सामाजिक दार्शनिकों की यह समस्या रही है कि वे मानव–जीवन को ब्रह्माण्ड के अनंत विस्तार से सम्बद्ध करके नहीं देखते। वे मानव–जीवन और उससे जुड़ी समस्याओं को खण्डित रूप में देखते हैं। अपने दर्शन को यदि वे इस रूप में प्रतिष्ठापित करें कि मानव अखण्ड ब्रह्माण्डीय व्यवस्था का केंद्रीय तत्त्व है, जिसका संस्कारित होना अत्यावश्यक है। मानव के संस्कारित होने से परिवार और परिवार के संस्कारित होने से समाज संस्कारित होता है। समाज संस्कारित होगा, तो राष्ट्र संस्कारित होगा। राष्ट्र संस्कारित होंगे, तो विश्व संस्कारित होगा और जब विश्व संस्कारित होगा, तो मानवी सत्ताओं का संघर्ष समाप्त हो जाएगा। जब मानवी सत्ताओं का संघर्ष समाप्त हो जाएगा, तो सभी मानव एकात्म होकर सहज ही अनंत ब्रह्माण्ड से एकाकार हो जाएँगे।

1989 ई. का वर्ष सोवियत संघ के इतिहास का न भुलाए जाने वाला वर्ष माना जाता है, जब 'कांग्रेस ऑफ पीपुल्स डेपुटीज' की बैठक हमेशा की तरह बन्द नहीं, अपितु खुले वातावरण में हो रही थी। सारा संसार आश्चर्यचकित था कि लोहे के आवरण में छुपा सोवियत संघ का शासन–तन्त्र इस तरह बेनकाब कैसे हो गया? यूरोप के इतिहास को पलटकर देखा जाए, तो ठीक दो शताब्दी पूर्व 1789 ई. में फ्रांस मे 'एस्टेट्स जनरल' का खुला अधिवेशन हुआ था, जो वहाँ झकझोरने वाला ऐतिहासिक परिवर्तन लेकर आया। सोवियत संघ के 'कांग्रेस ऑफ़ डेपुटीज' की बैठक भी दुनिया को झकझोरने वाला ऐतिहासिक परिवर्तन लेकर आई, जिसके फलस्वरूप वहाँ साम्यवादी शासन–तंत्र की दशकों से खड़ी भव्य इमारत ढह गई।

ii- विखण्डन

सोवियत संघ की दशकों से खड़ी भव्य इमारत क्यों ढह गई, इसके पीछे अनेक कारण विद्यमान थे। आर्थिक दृष्टि से

सोवियत संघ ने जो मॉडल अपनाया था, वह अनेक अर्थों में पूँजीवाद से अलग था, किन्तु था वह भी धन के निवेश पर आधारित मॉडल ही। साठ के दशक तक तो इस मॉडल ने ठीक तरह से काम किया, परन्तु बाद में इसके अन्तर्विरोध प्रत्यक्ष होने लगे। आर्थिक विकास के किसी मॉडल में केवल भारी उद्योगों की स्थापना पर बल दिया जाएगा, तो निश्चय ही कुछ वर्षों बाद उपभोक्ता–सामग्री की न्यूनता उत्पन्न हो जाएगी। सोवियत संघ में भी यही हुआ। उपभोक्ता सामग्री की कमी पड़ जाने से हर सोवियत नागरिक को आवश्यकता की वस्तुएँ उचित मूल्य पर मिलनी बन्द हो गईं और समाज में बाज़ारवाद के दोष छाने लगे।

सत्तर के दशक में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर तेल की माँग अत्यधिक बढ़ गई थी। सोवियत संघ के पास पेट्रोलियम पदार्थों का बहुत बड़ा भण्डारण था, अतः उसने पेट्रोलियम पदार्थों का निर्यात करना प्रारंभ कर दिया। विदेशी मुद्रा अर्जित करने पर अधिक ध्यान देने के कारण तक़नीकी विकास जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों से उसका ध्यान हट गया। जहाँ सोवियत संघ को तक़नीकी के क्षेत्र में और आगे बढ़ना चाहिए था, वहाँ वह पूँजीवादी देशों को ऊर्जा का निर्यात करने वाला देश बनकर रह गया।

दूसरी ओर अमेरिका व अन्य पूँजीपति देश तक़नीकी के क्षेत्र में बहुत आगे निकल गए। साथ ही शीत–युद्ध के चलते अमेरिका व सोवियत संघ दोनों को ही अपने समर्थक देशों के पक्ष में अनुदान व निवेश हेतु अत्यधिक राशि जारी करनी पड़ती थी। अमेरिका तो इस दबाव को झेल गया, लेकिन सोवियत संघ का आर्थिक सन्तुलन गड़बड़ा गया और भीतर ही भीतर वह एक दुर्बल राष्ट्र बनता चला गया।

एक ओर तो आर्थिक मोर्चे पर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होना और दूसरी ओर लेनिन के नेतृत्व में स्थापित 'एक दल की तानाशाही' का स्टालिन के नेतृत्व में 'एक व्यक्ति की तानाशाही' में बदल जाना' सोवियत संघ के लिए और भी घातक सिद्ध हुआ। लेनिन के नेतृत्व में 'एक दल की तानाशाही' के अन्तर्गत जहाँ विरोधी दलों का सफ़ाया किया गया, वहीं स्टालिन के नेतृत्व में 'एक व्यक्ति की तानाशाही' के अन्तर्गत विरोधी व्यक्तियों का सफ़ाया किया गया। पहले लेनिन और उसके बाद स्टालिन की नीतियों से सोवियत संघ की जनता में अत्यधिक आक्रोश उत्पन्न हो गया। इन तानाशाहों के दबाव में सोवियत जनता खुलकर बोल भी नहीं सकती थी। इसके कारण संघ के लिए सर्वस्व न्योछावर करने का उदात्त भाव उसके हृदय में कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ। इस दबाव का सर्वाधिक प्रभाव रूसी समाज के बहुनस्लीय चरित्र पर पड़ा। संघ के वे नागरिक – जो स्लाव नहीं थे, अत्यधिक क्षुब्ध थे। बाद में जब सोवियत संघ की बन्द राजनैतिक व्यवस्था के ताले टूटने का अवसर आया, तो अपनी माँगों को लेकर सबसे पहले मरने–मारने पर जो लोग उतारू हुए – उनमें से अधिकतर वे थे, जो स्लाव नहीं थे।

अनेक घटनाओं के पश्चात् 1988 ई. में सोवियत संघ का नेतृत्व मिखाइल गोर्वाच्योब के हाथों में आया। उसी के काल में कम्युनिस्ट पार्टी को अपने सम्मेलन में सोवियत संघ में निजी क्षेत्र के लिए दरवाज़े खोल देने पर सहमत होना पड़ा। निश्चय ही यह घटना सोवियत संघ के इतिहास में बार–बार दोहराई जाती रहेगी, क्योंकि यह सोवियत संघ और सोवियत विचार के ताबूत में ठोकी गई आख़िरी कील सिद्ध हुई। इसके बाद तो केवल शव–यात्रा निकलनी ही शेष थी।

मिखाइल गोर्वाच्योव की नीतियाँ, जिनसे सोवियत संघ का इतिहास बदल गया, पेरेस्त्रोइका (पुनर्रचना) व ग्लासनोस्त (खुलापन) कहलाती हैं। घरेलू व बाहरी विवशताओं के कारण गोर्वाच्योव को आर्थिक पुनर्रचना और वैचारिक खुलेपन की आड़ में पूँजीवाद के आगे घुटने टेकने पड़े। गोर्वाच्योव ने जो किया, उसे रोका जाना कठिन ही नहीं असंभव था। सोवियत संघ में यह काम गोर्वाच्योव के हाथों नहीं, तो किसी और के हाथों होता।

गोर्वाच्योव ने गलती यह की कि उसने राजनैतिक नियन्त्रण को बहुत ढ़ीला छोड़ दिया। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो सोवियत संघ के इतिहास में उसका नाम कुछ सम्मान के साथ तो लिया ही जाता। उदारीकरण के आगे घुटने तो साम्यवादी चीन ने भी टेके थे, परंतु वहाँ के नेताओं ने राजनैतिक नियंत्रण ढीला नहीं छोड़ा, इसलिए वह सोवियत संघ की तरह बिखरा नहीं। राजनैतिक नियंत्रण ढीला छोड़ने के कारण ही गोर्वाच्योव के समक्ष यह संकट आया कि उसे अनुदारवादियों के साथ–साथ उदारवादियों का प्रकोप भी झेलना पड़ा।

गोर्वाच्योव की नीतियों के राजनैतिक परिणाम इस रूप में सामने आए कि सबसे पहले 1988 ई. में आर्मीनिया व अजरबैजान के मध्य युद्ध छिड़ा। उसके बाद 1990 ई. में

लिथुवानिया, एस्टोनिया और लाटाविया ने विश्व में अपना स्वतन्त्र व पृथक राजनैतिक अस्तित्व होने की घोषणा कर दी। अप्रैल 1991 ई. में जार्जिया ने अपने आप को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। घबराए हुए गोर्वाच्योव ने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि संघ इस तरह से न बिखर जाए कि कुछ भी शेष न रहे, इसलिए उसने स्वतंत्रता की घोषणा करने के लिए तैयार बैठे संघ के विभिन्न गणतंत्रो के नेताओं को अपनी ओर से उनके राज्यों की स्वायत्तता के विषय पर वार्ता करने की सहमति दे दी। इस कार्य के लिए 20 अगस्त 1991 की तिथि निर्धारित की गई, परन्तु इसके दो दिन पूर्व ही गोर्वाच्योव को सत्ताच्युत करने का प्रयास हुआ।

सोवियत संघ से विघटित हुए राष्ट्र

क्रमांक	नाम
1	आर्मीनिया
2	अजरबैजान
3	बेलारूस
4	एस्टोनिया
5	जार्जिया
6	कज़ाख़िस्तान
7	किर्गिज़स्तान
8	लातविया
9	लिथुवानिया
10	मोल्डोवा
11	रूस
12	ताजिकिस्तान
13	तुकमेनिस्तान
14	यूक्रेन
15	उज़्बेकिस्तान

सोवियत संघ से विघटित हुए राष्ट्र–तालिका में दिए गए क्रम 1 से 15 के अनुसार देखिए।

कॉमनवैल्थ ऑफ इंडिपेंडेंट स्टेट्स (CIS) का गठन – 08 दिसम्बर 1991 को बेलारूस में बेलारूस, रशियन फ़ैडरेशन व यूक्रेन के प्रतिनिधि मिले।

दिसम्बर 1991 में यूक्रेन भी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। गोर्वाच्योव को गंभीर चुनौती उत्पन्न करने वाले उस वातावरण में राष्ट्रपति का पद त्यागना पड़ा। इसी दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वतन्त्र सोवियत राष्ट्रों को मान्यता भी दे दी। विघटित हुए पूर्व सोवियत संघ के ग्यारह गणराज्यों ने अपना एक राष्ट्रमण्डल – कॉमनवैल्थ ऑफ इंडिपेंडेंट स्टेट्स (CIS) – भी बनाया। कॉमनवैल्थ का गठन करने के उद्देश्य से 08 दिसम्बर 1991 को पहले बेलारूस में तीन राष्ट्रों – बेलारूस, रशियन फ़ैडरेशन व यूक्रेन – के प्रतिनिधि आपस में मिले। आठ अन्य राज्यों ने भी इसी माह इसे स्वीकार कर लिया। जार्जिया इस संगठन में दो वर्ष बाद सम्मिलित हुआ।

I- साम्यवादी गुट का बिखराव

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् पूर्वी यूरोप के अनेक देशों पर साम्यवादी तानाशाही आरोपित कर दी गई, इसलिए उन्हें सोवियत संघ के विघटन तक साम्यवाद का झण्डा उठाना पड़ा। सोवियत संघ के विघटन के बाद पूर्वी यूरोप के देश एक–एक करके साम्यवादी बंधन से मुक्त होते चले गए। तानाशाही सत्ताओं का अन्त सदैव बुरा ही होता है, इतिहास इसका गवाह है। जिस तरह तानाशाही पर आधारित नाज़ीवाद, फ़ासीवाद आदि व्यवस्थाओं का पतन हुआ, उसी तरह तानाशाही पर आधारित साम्यवादी व्यवस्था का भी पतन हुआ। एक अल्बानिया को छोड़कर अन्य पूर्वी यूरोपीय राज्यों जैसे हंगरी, पोलैण्ड, इटली आदि के साम्यवादी दलों ने स्वयं ही अपने मृत्युपत्र पर हस्ताक्षर कर दिए थे। पूर्वी यूरोप के देशों में ही क्यों, सोवियत रूस में भी राष्ट्रपति गोर्वाच्योव ने स्वयं पहले साम्यवादी दल पर प्रतिबन्ध लगाया और बाद में उसे समाप्त कर दिया।

साम्यवादी गुट के बिखराव का सबसे रोचक पहलू यह है कि यह बिना किसी बड़ी सांगठनिक योजना और ख़ून–ख़राबे के सम्पन्न हो गया। केवल रोमानिया ही इसका अपवाद रहा, जहाँ हिंसक घटनाएँ हुईं। चेकोस्लोवाकिया में तो साम्यवाद को वैधानिक रूप से समाप्त किया गया। वहाँ हुए चुनावों में साम्यवादी बहुत पीछे रह गए। 1993 ई. में वहाँ स्वतंत्र 'चेक' व 'स्लोवाक' राज्यों का उदय हुआ और चेकोस्लोवाकिया नाम की नाव इतिहास के महासागर में कहीं खो गई।

इसी लहर में नवम्बर 1990 में पूर्वी जर्मनी व पश्चिमी जर्मनी को विभाजित करने वाली 'बर्लिन की दीवार' भी जनता द्वारा ढहा दी गई। जर्मनी के वासियों के लिए निकट इतिहास में इससे सुन्दर अवसर नहीं आया था। 1990 ई. में दोनों जर्मनी फिर से एक हो गए। इधर जर्मनी में उत्सव मनाया जा रहा था, तो उधर जुलाई 1991 में सोवियत संघ व पूर्वी यूरोप के 7 साम्यवादी देशों का सैन्य संगठन 'वारसा पैक्ट' भंग कर दिया गया। यूगोस्लाविया में भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चल रहे स्वतंत्रता–यज्ञ का प्रभाव छा गया। सर्बिया और मोण्टीनीग्रो के संघ के रूप में मूल यूगोस्लाविया बना रहा – जबकि स्लोवेनिया, क्रोशिया, बोसनिया–हर्जेगाविना और मेसोडोनिया के रूप में चार अन्य स्वतन्त्र राष्ट्र अस्तित्व में आए। जून 2006 में मोण्टीनीग्रो भी सर्बिया से अलग हो गया। फ़रवरी 2008 में सर्बिया के एक प्रान्त कोसोवो ने अपनी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा कर दी, जिसे मान्यता प्रदान करने वाला पहला देश अमेरिका था।

रूस के विघटन का साम्यवाद पर मर्मांतक प्रहार के अतिरिक्त जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम सामने आया, वह है विश्व का एकध्रुवीय स्वरूप में ढल जाना। इस एकध्रुवीय विश्व का केंद्र है संयुक्त राज्य अमेरिका।

1. गुट–निरपेक्ष आन्दोलन : भारत का योगदान और इसकी विफलता के कारण

जब विश्व–मंच पर दो महाशक्तियाँ अपने–अपने प्रभाव का परीक्षण करने में लगी हों, तब किसी देश के लिए सबसे कठिन कार्य होता है निरपेक्ष रहना। द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् जब सोवियत रूस व संयुक्त राज्य अमेरिका दुनिया के समक्ष अपनी–अपनी शक्ति का परीक्षण करने में लगे हुए थे, तब नए–नए स्वतन्त्र हुए देश भारत के लिए सबसे चुनौतीपूर्ण कार्य यदि कोई था, तो वह दोनों महाशक्तियों के प्रति निरपेक्ष रहना ही था।

भारत ही क्यों, द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की जंजीरों से जो भी देश मुक्त हुए थे, उन सबके सामने यही दुविधा थी कि अब जाएँ तो किधर जाएँ?दोनों ही महाशक्तियाँ उन्हें अपनी ओर खींचने में लगी हुई थीं। कुछ राष्ट्रों पर भय दिखाकर दबाव बनाया जा रहा था, तो कुछ को प्रलोभन देकर प्रभावित किया जा रहा था। अधिकतर राष्ट्रों की रुचि किसी गुट विशेष में नहीं थी। वे इन महाशक्तियों से कूटनैतिक व व्यापारिक सम्बन्ध तो रखना चाहते थे, लेकिन उनके गुट का हिस्सा नहीं बनना चाहते थे। उनका न तो सोवियत संघ के साम्यवाद और न ही वे संयुक्त राज्य अमेरिका के 'पूँजीवाद' में विश्वास था। उनके समक्ष जो श्रेष्ठ विकल्प था, वह यही था कि दोनों ही गुटों से यथोचित दूरी बनाकर रहा जाए। लेकिन प्रश्न तो यह था कि गुटों से यह दूरी बने कैसे?चिंता यह थी कि उनका नेतृत्त्व कौन करे?इस चिंता को दूर किया भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू, मिस्र के राष्ट्रपति गामैन अब्देल नासिर और यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति जोसेफ ब्रोज़ टीटो ने। इन राष्ट्राध्यक्षों ने गुटों से निरपेक्ष रहने वाले राष्ट्रों के एक स्वतंत्र व प्रभावी संगठन की कल्पना की। यह कल्पना साकार भी हुई।

संगठन के निर्माण का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुटों से दूर रहने वाले राष्ट्रों की आवाज़ भी सुनी जाने लगी। यह अवश्य इतिहासकारों के मूल्यांकन का विषय है कि इस आवाज़ में असर अधिक पैदा क्यों नहीं हो सका ?

I- तात्पर्य

किसी भी राष्ट्र के लिए सर्वाधिक प्रतिष्ठाजनक स्थिति यही होती है कि समसामयिक विश्व में उसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाए। यदि किसी राष्ट्र को केवल इसीलिए सम्मान प्राप्त होता हो कि वह दुनिया के किसी एक शक्तिशाली गुट का पिछलग्गू है, तो यह सम्मान वास्तविक सम्मान नहीं होता है – क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि में उस राष्ट्र का अपना कोई योगदान नहीं होता। उसे जो भी स्थान मिलता है – वह उस गुट की शक्ति के कारण मिलता है, जिसके पीछे वह चलता है। इसलिए अपनी स्वतन्त्र व सम्मानजनक अन्तर्राष्ट्रीय पहचान बनाने के लिए किसी भी राष्ट्र का गुट से परे रहना ही श्रेयस्कर होता है।

गुट से परे रहने का यह भाव अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर यदि विभिन्न राष्ट्रों को संगठित कर देता है, तो सामूहिक रूप से इसे 'गुट–निरपेक्षता' कहा जा सकता है।

किसी एक राष्ट्र के गुट–निरपेक्ष होने और राष्ट्रों के एक समूह के गुट–निरपेक्ष होने में मूलभूत अन्तर है। यदि गुट–निरपेक्ष राष्ट्र किसी समूह अथवा संगठन के रूप में एक हैं, तो वे किसी महाशक्ति से कम नहीं हैं, लेकिन उनके काम करने की शर्त ही यह होनी चाहिए कि वे गुट के रूप में काम करते हुए दिखाई न दें। अगर वे ऐसा नहीं करते हैं, तो आंदोलन की मूल भावना को हानि पहुँचाते हैं। जब गुट–निरपेक्ष राष्ट्र अपने आप में एक 'गुट' ही बन जाते हैं, तो उनके गुट–निरपेक्ष होने का अर्थ ही समाप्त हो जाता है। संतोष का विषय है कि विगत चार दशकों से गुट–निरपेक्ष आन्दोलन का इस प्रकार का स्वरूप उद्घाटित नहीं हुआ है कि वे किसी 'गुट' के रूप में दिखाई दें। कहा जा सकता है कि गुट–निरपेक्ष देशों का गुट के रूप में न उभरना उनके लिए फ़ायदेमंद नहीं रहा, परंतु विचार किया जाना चाहिए कि यदि वे एक गुट के रूप में उभरते भी, तो संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ की तरह विश्व में शीत–युद्ध की राजनीति ही करते। कुछ भी हो, एक संगठन के रूप में गुट–निरपेक्ष आंदोलन ने विश्व में स्थिरता व शांति की स्थापना के लिए कुछ उल्लेखनीय कार्य अवश्य किए हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य देशों में से दो तिहाई देश ऐसे हैं, जो गुट–निरपेक्षता को अंगीकार किए हुए हैं।

एक निष्कर्ष यह भी है कि गुट–निरपेक्ष राष्ट्रों के एक बलशाली गुट के रूप में न उभरने से उनके निरपेक्ष चरित्र की रक्षा तो हुई, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर उनका स्वर बहुत प्रभावी रूप में नहीं उभर सका। गुट–निरपेक्ष राष्ट्र अपना स्वर किस प्रकार इतना तीव्र करें कि उनके स्वार्थ सिद्ध हों, इसके लिए जो मार्ग उन्होंने अपनाया – वह यह था कि उन्होंने या तो किसी क्षेत्रीय मंच का गठन कर लिया या वे किसी क्षेत्रीय मंच के सदस्य बन गए।

क्षेत्रीय मंचों का पक्ष सुने बिना दोनों ही महाशक्तियों, संयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत रूस, का व्यापार–व्यवहार नहीं चल सकता था। इसलिए उन्होंने, जहाँ बहुत आवश्यक हुआ, प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न क्षेत्रीय मंचों या संगठनों को महत्त्व दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि गुट–निरपेक्ष राष्ट्र विभिन्न क्षेत्रीय मंचों से सम्पृक्त होकर अपने मूल रूप में गुट–निरपेक्ष न रहते हुए भी गुट–निरपेक्षता के सिद्धांत का पालन कर रहे थे।

जहाँ तक 'गुट–निरपेक्षता' शब्द के अर्थ का प्रश्न है, इस शब्द–बन्ध से ही उसका अर्थ प्रकट हो जाता है कि द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद की परिस्थितियों में किसी देश का विश्व की दो महाशक्तियों, संयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत रूस, द्वारा अपने पक्ष में बनाए गए गुटों में से किसी भी गुट का सदस्य न होना गुट–निरपेक्षता कहलाता है।

'गुट–निरपेक्षता' की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए जॉर्ज श्वार्जनबर्गर अपनी पुस्तक 'द स्कोप ऑफ न्यूट्रैलिज़्म' में ऐसे छह प्रत्ययों का उल्लेख करते हैं, जिनका गुट–निरपेक्षता पर्याय नहीं है। ये छह प्रत्यय हैं – अलगाववाद, अप्रतिबद्धता, तटस्थता, तटस्थीकरण, एकपक्षवाद और असंलग्नता।

वस्तुतः गुट–निरपेक्षता की यही प्रकृति है कि कोई देश न केवल महाशक्तियों द्वारा पोषित गुटों से, अपितु उनके माध्यम से अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने वाली मैत्री–संधियों से भी दूर रहे और अपनी घरेलू व विदेशी नीतियों का निर्धारण पूर्णतया स्वतन्त्र रूप से करे। गुट–निरपेक्षता का मूल चरित्र किसी राष्ट्र का किसी गुट विशेष के सापेक्ष न रहना ही नहीं है, बल्कि गुट–निरपेक्षता का मूल चरित्र है गुटों से निरपेक्ष रहते हुए अन्य राष्ट्रों के साथ शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व के आधार पर न्यायपूर्ण परराष्ट्रीय सम्बन्ध रखना।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सूत्रधार–नासिर, टीटो और नेहरू

गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सूत्रधार तीनों नेताओं –

नेहरू, नासिर और टीटो –ने विश्व के समक्ष गुट–निरपेक्षता के पाँच आयाम दिए थे। उनका कहना था कि गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सदस्य राष्ट्र अपनी स्वतन्त्र नीति पर चलें, उपनिवेशवाद का विरोध करें, किसी सैनिक गुट का सदस्य न बनें, किसी बड़ी शक्ति के साथ द्विपक्षीय समझौता न करें और किसी महाशक्ति को अपनी भूमि पर सैनिक अड्डा बनाने की स्वीकृति न दें। जून 1961 में काहिरा में राष्ट्रों की भूमिका–बैठक में स्वीकार किए गए इन पाँच मानदण्डों की ठीक–ठीक सीमा इस आंदोलन की आधी से अधिक शताब्दी बीत जाने के बाद भी तय नहीं हो पाई है। यही कारण है कि आज तक हम गुट–निरपेक्षता की एक स्वीकार्य अन्तर्राष्ट्रीय परिभाषा भी निर्धारित नहीं कर पाए हैं। गुट–निरपेक्षता की ठीक–ठीक परिभाषा निर्धारित न हो पाने से इस आंदोलन के सदस्य राष्ट्रों ने यह सुविधा अर्जित कर ली कि वे यह स्वयं ही तय करेंगे कि उनके व्यवहार से कहाँ आंदोलन की भावना का उल्लंघन हुआ है और कहाँ नहीं हुआ है।

i-काल

सामान्यतः बीज रूप में आधुनिक राष्ट्रों की गुट–निरपेक्षता का आरोपण शीत–युद्ध के प्रारम्भ से ही माना जाता है। तब दुनिया के अनेक राष्ट्र यह दुविधा अनुभव करने लगे थे कि दोनों में से किस देश का पक्ष लिया जाए?उसी दौर में यह विचार भी सामने आया कि क्यों नहीं दोनों में से किसी भी देश का पक्ष न लिया जाए। यह विचार तब और भी पक्का हो गया, जब द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् ये दोनों बड़े देश अन्तर्राष्ट्रीय अखाड़े में पूरी तरह महाशक्तियों के रूप में उभर आए। जिन देशों को किसी भी गुट में सम्मिलित नहीं होना था, वे ऐसे अन्य साथियों की तलाश करने लगे जो इन दोनों महाशक्तियों के प्रसाद अथवा प्रकोप दोनों से बचने का मार्ग ढूँढ़ रहे थे।

अन्ततः 1961 ई. में गुट–निरपेक्ष आंदोलन (नाम) अस्तित्व में आया, जो अब तक काम कर रहा है। अतः गुट–निरपेक्ष आंदोलन का काल हमें 1961 ई. से प्रारंभ होकर आज की तिथि तक मानना चाहिए। विश्वास किया जाना चाहिए कि यह आंदोलन आगे भी जारी रहेगा।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन का सोलहवाँ सम्मेलन अगस्त 2012 ई. में तेहरान में सम्पन्न हुआ, जिसमें 120 सदस्य देशों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। तेहरान में यह भी तय हुआ था कि गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सत्रहवाँ सम्मेलन वेनेजुएला में सम्पन्न होगा।

ii- गुट–निरपेक्ष आंदोलन क्यों?

स्पष्ट है कि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा करने के लिए कोई भी देश बिना किसी विवशता के किसी महाशक्ति का शरणागत होना नहीं चाहता था, इसीलिए विश्व के पटल पर गुट–निरपेक्ष आंदोलन का उदय हुआ। गुट–निरपेक्ष आंदोलन के उदय की पृष्ठभूमि में, जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, सर्वाधिक प्रमुख कारक तो शीत–युद्ध ही था। अमेरिका व सोवियत संघ के मध्य यदि वैसी ही सामान्य प्रतिस्पर्द्धा चली होती, जो दो महत्त्वाकांक्षी देशों में आम तौर पर चलते हुए देखी जाती है – तो संभवतः यह आंदोलन इतने बड़े रूप में सामने नहीं आता। इस आंदोलन से सम्बद्ध देशों को उस समय अधिक सक्रिय होना पड़ा, जब दोनों महाशक्तियों के मध्य चली प्रतिस्पर्द्धा अत्यंत संकटपूर्ण स्थिति तक जा पहुँची थी। इनके क्रियाकलापों को देखकर दुनिया इस आशंका से घिर गई कि कहीं तीसरा विश्वयुद्ध न हो जाए। यद्यपि इन महाशक्तियों ने एक दूसरे के विरुद्ध वास्तविक शस्त्रास्त्र काम में नहीं लिए, लेकिन इनके द्वारा प्रयुक्त किए गए कूटनैतिक मुँहगोलों और काग़ज़ के बमों ने नव–स्वतन्त्र राष्ट्रों को इतना भयग्रस्त कर दिया कि उन्हें सोचना पड़ा कि यदि वे किसी एक महाशक्ति के प्रभाव में आ गए, तो दूसरी महाशक्ति उनका विनाश कर देगी।

राष्ट्रों का भी व्यक्तियों की तरह अपना मनोविज्ञान होता है, जो उन्हें निरन्तर असहज होने से बचने की ओर लेकर जाता है। इसलिए उस परिस्थिति में निरपेक्ष रहना ही नव–स्वतन्त्र राष्ट्रों के समक्ष सर्वश्रेष्ठ विकल्प था। निरपेक्ष रहते हुए वे अनेक कूटनैतिक दबावों से मुक्त होकर 'रुको और देखो' की नीति पर सरलता से चल सकते थे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह नियम है कि किसी भी राष्ट्र की संप्रभुता प्रमाणित ही तभी होती है, जब वह इतना स्वतन्त्र हो कि अपने निर्णय स्वयं ले सके। यदि कोई राष्ट्र किसी गुट विशेष में सम्मिलित होता है, तो निश्चित रूप से उसकी संप्रभुता को न्यूनाधिक आघात पहुँचता ही है। संप्रभुता के साथ–साथ हर राष्ट्र की अपनी श्रेष्ठ सांस्कृतिक–राजनैतिक परम्पराएँ होती हैं। वह उन परम्पराओं को अक्षुण्ण बनाए रखने का प्रयास करता है, ताकि उसकी

विशिष्ट पहचान बनी रहे। इस कारण भी नव–स्वतन्त्र राष्ट्रों को गुटों से निरपेक्ष रहना अधिक उपयुक्त लगा।

किसी राष्ट्र के लिए किसी महाशक्ति के गुट में सम्मिलित होने का एक यह अर्थ भी था कि समय–समय पर अपने सैन्य व अन्य संसाधनों का उसके पक्ष में, ऐसे राष्ट्रों के विरुद्ध भी प्रयोग करना, जिनसे उसकी कोई शत्रुता नहीं है। इसके विपरीत गुट का सदस्य होने के नाते किसी विशेष परिस्थिति में किसी महाशक्ति से किसी राष्ट्र को कोई सैनिक या अन्य प्रकार की सहायता मिलती भी है, तो वह महाशक्ति उसकी इतनी क़ीमत वसूल करती है कि वह राष्ट्र अपनी सम्पन्नता खो बैठता है। स्पष्ट है कि अपने अमूल्य संसाधनों को बचाए रखने हेतु कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र गुट से निरपेक्ष रहने का विकल्प ही चुनेगा।

इसके अतिरिक्त गुट–निरपेक्ष राष्ट्रों की एक और विडम्बना यह रही है कि वे कभी आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न नहीं रहे – इसलिए उनके लिए इस संभावना को सदैव जीवित रखना आवश्यक था कि वे जहाँ से भी आर्थिक सहयोग माँगें, मिल जाए। कोई भी गुट–निरपेक्ष राष्ट्र इस आधार पर उसे सहायता देने में सक्षम किसी राष्ट्र का तिरस्कार झेलना नहीं चाहता था कि वह उसके विरोधी गुट का सदस्य है।

एक जैसी स्थिति का सामना करने के कारण गुट से निरपेक्ष रहने वाले राष्ट्रों के लिए द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् की विश्व–राजनीति में अत्यन्त सुविधाजनक स्थिति बन गई थी कि वे एक अलग संगठन बनाकर अपना उन्नयन करें। अतः कहा जाना चाहिए कि गुट–निरपेक्ष आंदोलन वस्तुतः गुट से निरपेक्ष रहने वाले राष्ट्रों की सुविधा का ही एक 'नाम' है।

iii- सामूहिक नेतृत्व के स्वर

यद्यपि गुट–निरपेक्ष आंदोलन के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ एवं अन्य अन्तरराष्ट्रीय संगठनों की तरह किन्हीं बड़े व स्थायी निकायों की स्थापना नहीं की गई। इस कारण यह संगठन वह ऊँचाई नहीं प्राप्त कर सका, जिसकी इसमें संभावना थी। यद्यपि गुट–निरपेक्ष देशों में पारस्परिक समन्वय स्थापित करने, विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर संगठन की ओर से आधिकारिक राय प्रकट करने और संयुक्त रूप से कोई कार्रवाई करने के लिए कोई विशिष्ट निकाय नहीं था। फिर भी यह संगठन विश्व–मंच पर एक सीमा तक राष्ट्रों के सामूहिक नेतृत्व के स्वरों को गुंजायमान करने में सफल हुआ। इन स्वरों को अंतरर्राष्ट्रीय जगत में महत्त्व कितना मिला, यह एक अगल प्रश्न है। यद्यपि गुट–निरपेक्ष आंदोलन की प्राथमिक कार्य–सूची में विशिष्ट निकायों की स्थापना का कार्य सम्मिलित नहीं था, फिर भी इस आंदोलन के तहत दो प्रमुख संस्थाएँ – समन्वयन ब्यूरो और सम्मेलन अथवा 'कॉंफ्रेंस' – गठित हुईं।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सोलहवें शिखर–सम्मेलन का प्रतीक–चिह्न (लोगो)

वे कौन–कौन से विषय हों, जिनके प्रकाश में गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सदस्य देश आपस में विचार–विनियम करें और विश्व के मंचों पर किस रीति से अपना सामूहिक स्वर उच्चरित करें– यह निर्धारित करने का कार्य 'समन्वयन–ब्यूरो' करता है। समन्वयन–ब्यूरो के इस समय 66 सदस्य हैं, जिनका कि निर्वाचन होता है। दूसरी संस्था 'सम्मेलन' अथवा 'कॉंफ्रेंस' है, जिसके अन्तर्गत दो

निकाय आते हैं। प्रथम निकाय है 'मंत्री–स्तरीय सम्मेलन', जिसमें सदस्य देशों के विदेश–मंत्री भाग लेते हैं। सम्मेलन का द्वितीय निकाय है 'शिखर–सम्मेलन'।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन के शिखर–सम्मेलन

संख्या	वर्ष	स्थान
1	1961	यूगोस्लाविया
2	1964	मिस्र
3	1970	जाम्बिया
4	1973	अल्जीरिया
5	1976	श्रीलंका
6	1979	क्यूबा
7	1983	भारत
8	1986	जिम्बाब्वे
9	1989	यूगोस्लाविया
10	1992	इण्डोनेशिया
11	1995	कोलम्बिया
12	1998	दक्षिणी अफ्रीका
13	2003	मलेशिया
14	2006	क्यूबा
15	2009	मिस्र
16	2012	ईरान
17	2015	वेनेजुएला

शिखर–सम्मेलन' सदस्य राष्ट्रों का सबसे बड़ा आयोजन होता है, जिसमें उनके शासनाध्यक्ष प्रमुख रूप से भाग लेते हैं। शिखर–सम्मेलन तीन वर्ष में एक बार होता है। शिखर–सम्मेलन में भाग लेने हेतु चार प्रकार के प्रतिनिधि अनुमत होते हैं – पूर्ण सदस्य, पर्यवेक्षक सदस्य, ग़ैरराज्य सदस्य और अतिथिगण। गुट–निरपेक्ष आंदोलन के शिखर–सम्मेलन को विश्व–राजनीति की एक प्रमुख घटना के रूप में देखा जाता है। दुनिया के सभी बड़े देश यह जानने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं कि विश्व–जनसंख्या के एक बड़े हिस्से के प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर स्वयं को किस रूप में प्रस्तुत करते हैं। 2012 तक गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सोलह अधिवेशन सम्पन्न हो चुके हैं।

I- गुट–निरपेक्ष आंदोलन और भारत

भारत गुट–निरपेक्ष आंदोलन का संस्थापक सदस्य है। किसी भी आक्रामक गुट में सम्मिलित न होकर स्वयं से सहमति रखने वाले ऐसे देशों को साथ लेकर चलना, जो ज़रूरत पड़ने पर प्रतिक्रिया भी करें और सामान्य स्थिति में जन–कल्याण के पथ पर अग्रसर होते रहें। यही तो मध्यम मार्ग है, जो भारतीय जीवन–दर्शन का आधार हैं।

पहले वेद के ऋषि व उसके बाद बुद्ध ने जिस मध्यम मार्ग को मुक्ति का मार्ग बताया, उसी को भारत ने गुट–निरपेक्षता के सिद्धान्त में समाहित किया। भारत ने गुट–निरपेक्षता को एक रचनात्मक स्वरूप देने का पूरा प्रयास किया। भारत ने प्रारंभ में ही स्पष्ट कर दिया था कि गुट–निरपेक्षता का यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि हम शेष विश्व से असम्पृक्त हो गए हैं और यह भी न समझा जाए कि गुट–निरपेक्ष राष्ट्र हर अन्तर्राष्ट्रीय मामले में चुप ही रहेंगे। भारत ने कहा कि यदि कहीं स्वतन्त्रता का हनन होगा, न्याय की हत्या होगी अथवा आक्रमण होगा – तो वहाँ हम न आज तटस्थ रह सकते हैं और न ही भविष्य में रहेंगे, क्योंकि गुट–निरपेक्षता का अर्थ तटस्थता नहीं है। भारत ने कहा कि आवश्यकता पड़ने पर गुट–निरपेक्षता का उल्लंघन न करते हुए यह आंदोलन संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की भरपूर मदद भी करेगा।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सदस्य देश कितने गुट–निरपेक्ष हैं, इस विषय को लेकर अनेक बार आशंकाएँ उत्पन्न हुई हैं। अगस्त 1971 में भारत और सोवियत संघ के मध्य हुई मैत्री व सहयोग संधि को लेकर विवाद उठा कि भारत ने गुट–निरपेक्षता के सिद्धान्त का उल्लघंन किया है। भारत ने अपना पक्ष इस प्रकार रखा कि पाकिस्तान पूरी तैयारी के साथ हमें युद्ध की धमकी दे रहा है और चीन भी उसकी तरफ़ से लड़ने को तैयार है। साथ ही अमेरिका कहता है कि भारत–पाक संघर्ष में वह निष्क्रिय रहेगा। फिर भी हमने रूस के साथ केवल मैत्री व सहयोग की संधि की है, कोई युद्ध–संधि नहीं की है। अतः गुट–निरपेक्षता का किसी प्रकार उल्लंघन भारत ने नहीं

किया है। वस्तुस्थिति तो यह है कि भारत ने 1962 ई. में चीन का आक्रमण झेला, फिर भी वह गुट–निरपेक्षता के सिद्धान्त से विचलित होकर अमेरिका के गुट में नहीं गया, जबकि रूस ने उस समय चीन को अपना भाई बताते हुए उसे नियंत्रित करने से इंकार कर दिया था। इस प्रकार भारत ने अपनी ओर से गुट–निरपेक्ष आंदोलन की पूरी रक्षा की। भारत ने किसी भी स्थिति में गुट–निरपेक्ष आंदोलन को त्यागने का विचार नहीं किया।

हाँ, हमें यह अवश्य विचार करना चाहिए कि पाकिस्तान और चीन के साथ संघर्ष के दौरान महाशक्तियों द्वारा हमें उपेक्षित करना कहीं इस कारण तो नहीं था कि हमारा तत्कालीन राजनैतिक नेतृत्व अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपनी छवि बचाने की चिन्ता ही करता रहा। दुनिया के इतिहास में यह कोई नई बात नहीं है कि नेताओं का स्वप्नदर्शी व्यक्तित्त्व अनेक बार राष्ट्र के भविष्य के लिए संकट भी खड़ा कर देता है।

ii- गुट–निरपेक्ष आंदोलन की सफलताएँ

गुट–निरपेक्ष आंदोलन के प्रथम शिखर–सम्मेलन में, जो 1961 ई. में बेलग्रेड में संपन्न हुआ था, 25 देशों ने और इसके सोलहवें शिखर–सम्मेलन में, जो 2012 ई. में तेहरान में सम्पन्न हुआ था, 120 देशों ने भाग लिया। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि गुट–निरपेक्षता आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सर्वाधिक लोकप्रिय दर्शन बन चुकी थी। भले ही इसके आलोचक कितनी ही दृढ़ता से इसके अप्रासंगिक हो जाने का प्रकटीकरण करें, इससे कोई इंकार नहीं कर सकता कि दुनिया के अधिकतर देश द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् उभरे शीत–युद्ध में अपनी इच्छा की किसी एक महाशक्ति को चुन लेते, तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति केवल युद्धों का लेखा–जोखा ही होती।

गुट–निरपेक्षता की यह विशेष उपलब्धि है कि उसके कारण शीत–युद्ध शैथिल्य के दौर में प्रवेश कर गया। गुट–निरपेक्ष आंदोलन के प्रभाव से शीत–युद्ध का शैथिल्य के दौर में प्रवेश कर जाना इसकी प्रासंगिकता को सिद्ध करता है। इस आंदोलन की प्रासंगिकता इस तथ्य से भी सिद्ध होती है कि दोनों ही महाशक्तियों ने यह कहना प्रारंभ कर दिया था कि गुट–निरपेक्षता भी एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्य–पद्धति है। जर्मनी, कोरिया, चीन, इण्डो–चीन, काँगो आदि क्षेत्रों में उत्पन्न हुई अशांति को गुट–निरपेक्ष आंदोलन ने दूर किया, इससे सिद्ध होता है कि गुट–निरपेक्षता को अंतरर्राष्ट्रीय स्वीकृति मिल चुकी थी। भारत ने गुट–निरपेक्ष आंदोलन का प्रमुख सदस्य होते हुए 1954 ई. में परमाणु–आयुधों पर प्रतिबन्ध लगाने का विषय अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर रखा, जिसे 1963 ई. में आंशिक परीक्षण निषेध संधि के रूप में मान्यता भी दी गई। निश्चित रूप से विकासशील देशों की आवाज़ विकसित देशों द्वारा दबा दी जाती, यदि गुट–निरपेक्ष आंदोलन के ध्वज तले आर्थिक सहयोग का मोर्चा विकासशील देशों ने न खोल दिया होता। अब तक संयुक्त राष्ट्र संघ में महाशक्तियों की मनमानी को महासभा में गुट–निरपेक्ष देशों ने ही रोकने की कोशिश की है, जिससे विश्व–समुदाय के सामने उनकी सकारात्मक भूमिका प्रकट हुई।

स्पष्ट है कि गुट–निरपेक्ष आंदोलन ने विश्व–राजनीति को एक रचनात्मक दृष्टिकोण देने का प्रयास किया।

iii- गुट–निरपेक्ष आंदोलन की विफलताएँ

गुट–निरपेक्ष आंदोलन पर सबसे बड़ा आक्षेप यही है कि इसके सदस्य घोषित रूप से तो गुट–निरपेक्ष थे, किन्तु वे असल में वे कभी गुट–निरपेक्ष रहे नहीं। एक सीमा तक यह सत्य भी है। भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का साम्यवाद की ओर झुकाव जगजाहिर है। भारत यदि थोड़ा सोवियत रूस की ओर झुका रहा है, तो पाकिस्तान पूरा ही अमेरिका के पक्ष में खड़ा रहा है।

सच्ची और शुद्ध गुट–निरपेक्षता तो वही होती, जिसमें इस आंदोलन के सदस्य राष्ट्र दोनों ही महाशक्तियों की

अवहेलना करते तथा आर्थिक क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग के नए कीर्तिमान स्थापित करते। दोनों ही महाशक्तियों से लाभ व सहायता प्राप्त करने के लोभ ने अनेक गुट–निरपेक्ष देशों को अनैतिक समझौते करने के लिए विवश किया। इन देशों को अनेक बार महाशक्तियों के समक्ष याचक–मुद्रा में भी खड़ा होना पड़ा, क्योंकि गुट–निरपेक्ष आंदोलन ने अपने भीतरी तन्त्र में व्यापक स्तर पर अपने सदस्यों की आर्थिक सुरक्षा का कोई महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम कभी तैयार नहीं किया।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन की एक और बड़ी न्यूनता यह थी कि आंदोलन की ओर से उस स्थिति का विचार करते हुए कोई सोची–समझी नीति घोषित नहीं की गई, जिस स्थिति में यदि कोई बड़ी शक्ति किसी छोटे देश पर आक्रमण करे, तो उसकी रक्षा कैसे की जाएगी? 1962 ई. में, जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया, तब हमारे गुट–निरपेक्ष मित्रों ने ऐसा कोई प्रयास नहीं किया – जिससे सामूहिक सुरक्षा की भावना झलकती हो। उन्हें यह समझना चाहिए था कि भारत यदि गुट–निरपेक्ष न रहकर किसी एक महाशक्ति की शरण में रहा होता, तो उसे या तो युद्ध की त्रासदी झेलनी ही नहीं पड़ती और यदि झेलनी भी पड़ती, तो निश्चित रूप से एक बड़ी ताक़त उसके साथ लड़ रही होती।

भारत, मिस्र और यूगोस्लाविया जैसे गुट–निरपेक्ष आंदोलन के संस्थापक राष्ट्र शीत–युद्ध के दौर में महाशक्तियों की आक्रामक नीति में कोई मूलभूत सुधार नहीं करवा सके। यद्यपि विभिन्न देशों के गुटों से दूर रहने के कारण शीत–युद्ध में शैथिल्य तो आया, किंतु महाशक्तियों के आक्रामक रवैये में कोई बड़ा परिवर्तन आ गया हो, ऐसा नहीं हुआ। परन्तु सांगठनिक स्तर पर गुट–निरपेक्ष आंदोलन की सक्रियता के कारण ऐसा हुआ था, इससे सहमत नहीं हुआ जा सकता। दुनिया के देखते–देखते चीन ने तिब्बत पर कब्ज़ा कर लिया, लेकिन कोई कुछ नहीं कर सका। अरब–इज़राइल संघर्ष में भी दुनिया के गुट–निरपेक्ष देश सक्रिय रूप से कोई भूमिका नहीं निभा सके। गुट–निरपेक्ष आंदोलन के चलते हुए भी अल्जीरिया, अंगोला, मोजाम्बीक आदि राष्ट्रों में स्वतन्त्रता के लिए बड़े स्तर पर रक्तपात हुआ। भारत के पड़ोस में नेपाल जैसे छोटे–से देश में शासन को अस्थिर करने वाली प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगीं। इस प्रकार विगत आधी शताब्दी से विश्व में गुट–निरपेक्षता को भंग करने की इतनी घटनाएँ हुई हैं कि इतिहास के अध्येताओं को यह ढूँढने में बहुत श्रम करना पड़ेगा कि गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सदस्य देशों में से कौनसा देश पूर्णतया गुट–निरपेक्ष रहा है।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन की सफलताओं और विफलताओं का साँगोपांग विवेचन करने से यह स्पष्ट होता है कि इस आन्दोलन को यदि ठीक दिशा प्रदान की जाए, तो शीत–युद्ध का दौर पूर्णतया समाप्त हो चुका है और हमें जिस ओर देखना है, उस ओर केवल एक महाशक्ति अमेरिका ही विद्यमान है। इस एकध्रुवीय विश्व में यदि गुट–निरपेक्षता को उसका यथोचित सम्मान मिलता है, तो इसकी प्रासंगिकता सिद्ध होने में अधिक समय नहीं लगेगा।

1. आधुनिक विश्व व इसके समक्ष चुनौतियाँ : पर्यावरण एवं आतंकवाद

जानकारों के समक्ष विगत शताब्दी में तीन बार ऐसे अवसर आए, जब उन्होंने अपना यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि अब जो दुनिया होगी, वह एक 'नई दुनिया' होगी। प्रथम अवसर तब आया – जब प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हुआ, द्वितीय अवसर तब आया – जब द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हुआ और तृतीय अवसर तब आया – जब शीत–युद्ध समाप्त होने के साथ ही सोवियत संघ का पतन हो गया। मार्क्सवादी–लेनिनवादी शासन–पद्धति के पराभव से समाज–शास्त्रियों ने यह निष्कर्ष भी निकाल लिया था कि विश्व ने अंतिम रूप से अब पश्चिम के तथाकथित उदारवादी लोकतन्त्र को स्वीकार कर लिया है।

यहाँ प्रश्न यह उदित होता है कि पश्चिम के जिस

उदारवादी लोकतन्त्र को प्रचारित किया जा रहा है, क्या यथार्थ रूप में वह उतना उदार है?बिलकुल नहीं! यही प्रश्न इस रूप में भी उठ सकता है कि क्या पश्चिम के समस्त राष्ट्र राजनैतिक रूप से इतने परिपक्व हो गए हैं कि उन्हें इस तथाकथित 'उदार लोकतन्त्र' के साये में समस्याओं से जूझ रही मानवता के कल्याण का मार्ग सूझ गया है?अमेरिका के राजनेता–अर्थशास्त्री फ्रांसिस फुकुयामा ने तो अत्यधिक आत्मविश्वास में यह घोषणा ही कर दी थी कि अब 'इतिहास का अंत' हो गया है, जबकि चिन्तकों के एक बड़े वर्ग का कहना है कि दुनिया में जो श्रेष्ठ है, उसका तो अभी सामने आना शेष है।

'इतिहास के अन्त' की घोषणा फुकुयामा द्वारा स्वयं को बहुत बड़ा अमेरिकापरस्त सिद्ध करने के लिए ही की थी। सिद्धांत के तौर पर विश्व ने 'इतिहास के अंत की घोषणा' को कोई मान्यता नहीं दी। दार्शनिकों ने फुकुयामा के कहने पर इतिहास के अंत की तो कोई घोषणा नहीं की, अपितु उसकी घोषणा का ही अंत घोषित कर दिया। फुकुयामा को इतनी–सी बात समझ में नहीं आई कि इतिहास का न तो कभी अंत होता है और न ही उसमें से वह श्रेष्ठ तत्त्व नष्ट हो सकता है, जिससे मानवता का त्राण होता हो।

साम्यवाद की आलोचना करने के अतिरेक में फुकुयामा ने इस तथ्य की अनदेखी की कि यदि अंत हुआ है, तो सोवियत संघ का हुआ है – साम्यवाद के विचार का नहीं! पवित्र साध्य प्राप्त करने के लिए अपवित्र साधनों के इस्तेमाल की अनुमति देने वाला साम्यवादी दर्शन अकादमिक रूप से आज भी लोगों को आकर्षित करता है। जिस उदारवादी लोकतन्त्र की बात पश्चिमी देश कर रहे है, वह उसी पूँजीवाद की सन्तान है, जिसकी जड़ों में श्रमिकों का रक्त व स्वेद समाया हुआ है। जिस उदारवादी लोकतन्त्र का पक्ष पश्चिमी समाज लेता है, उस उदारवादी लोकतन्त्र को तो निरंतर परमाणु–आयुधों के भण्डारण से पोषित किया जा रहा है। ऐसे आत्मघाती उदारवाद की आड़ में मानवता की रक्षा कभी नहीं हो सकती।

अब, जबकि कहा यह जा रहा है कि भूमण्डलीकरण के कारण विश्व का एकध्रुवीय चरित्र अधिक दिनों तक स्वीकार नहीं किया जाएगा। समाज–शास्त्री मानते हैं कि अब राष्ट्रों के स्थान पर सभ्यताओं के एकीकरण की भूमिका लिखी जाएगी। स्वार्थ–पूर्ति के आधार पर बने गठबन्धन बिखरने में अधिक समय नहीं लेते, इसलिए आशा की जानी चाहिए कि एकध्रुवीय विश्व की स्थिति अधिक समय तक बनी नहीं रहेगी।

जब तक विश्व के लोगों में स्वप्रेरणा से एक होने का भाव नहीं जागेगा, तब तक विश्व की समस्याएँ सुलझने के बजाय उलझती ही चली जाएँगी। इस समय विश्व दो बड़े संकटों, पर्यावरण के प्रति हमारी निष्ठुरता और आतंकवाद के संस्थागत प्रसार, का सामना कर रहा है। यदि इन संकटों का कोई समाधान निकल आए, तो यह मानव–सभ्यता के लिए अत्यन्त कल्याणकारी स्थिति होगी।

पर्यावरण

यह एक शुभ संकेत है कि पर्यावरण को निरन्तर क्षति पहुँचाते हुए भी विश्व के देशों ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय विमर्श के केन्द्रीय विषयों में सम्मिलित किया है। यह अलग बात है कि आज की परिस्थिति में पर्यावरण–विनाश के लिए राष्ट्रों द्वारा एक–दूसरे को दोषी ठहराने की राजनीति उभार पर है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में पर्यावरण के मुद्दे पर विकासशील राष्ट्रों की ओर से सदैव यह प्रश्न उठाया जाता है कि जब विकसित देश अपने निहित स्वार्थों के लिए इस धरती के पर्यावरण को विकासशील व अविकसित राष्ट्रों की तुलना में कई गुना अधिक हानि पहुँचा रहे हैं, तो वे इसकी ज़िम्मेदारी क्यों नहीं लेते हैं?

विश्वास किया जाना चाहिए कि आज नहीं तो कल, विश्व के समस्त राष्ट्र एक राय होकर पर्यावरण–संरक्षण के विषय को उसी तरह सर्वोच्च प्राथमिकता देंगे, जिस तरह परमाणु–आयुधों के नष्टीकरण और आतंकवाद के ख़ात्मे जैसे अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों को दी जाती है।

I- स्वरूप

पर्यावरण जैसे संवेदनशील विषय पर चर्चा करते समय हमें केवल उसके स्थूल या बाह्य स्वरूप पर ही विचार नहीं करना चाहिए। पर्यावरण का मूल स्वरूप तो सूक्ष्म अथवा आभ्यन्तरिक स्वरूप है, जिसके अन्तर्गत हमारे भारतीय ऋषि आह्वान करते हैं कि मानव–मानव के मध्य सुन्दरतम संबंध विकसित होने अत्यावश्यक हैं। मानव और मानव के मध्य जब सुन्दरतम संबंध विकसित होंगे, तभी वह विश्व के समस्त जीव–जन्तुओं के प्रति संवेदनशीलता के साथ अपना उत्तरदायित्व निर्धारित करेगा।

ii- चिन्तन और प्रयास

आधुनिक प्ररिप्रेक्ष्य में, जब प्रमुखतः आर्थिक विषय ही विभिन्न देशों के मध्य चर्चा के केन्द्र में रहते हैं, पर्यावरण से संबंधित चिन्ताओं की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि विश्व का समस्त आर्थिक उन्नयन पर्यावरणीय संरक्षण को सर्वोच्च प्राथमिकता देने से ही हो सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के प्रारंभिक दो दशकों में तो उसके एजेण्डा में पर्यावरणीय विषय प्राथमिकता से अंकित ही नहीं किए गए, लेकिन 1960 ई. के दशक में सागरीय प्रदूषण के तहत तेल के बिखराव जैसे मुद्दे पर कुछ सहमति अवश्य बनी। धीरे–धीरे दीर्घकालिक विकास की चिन्ता करते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य राष्ट्र पर्यावरण–संरक्षण को संस्थागत रूप देने का प्रयास करने लगे। यदि धरती के पर्यावरण का संरक्षण नहीं हुआ, तो निश्चय ही मानव–सभ्यता का आर्थिक विकास अवरुद्ध हो जाएगा, यह बिन्दु विशेष रूप से 1972 ई. में तब प्रकाश में आया, जब स्टाकहोम में पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र संघ का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के पश्चात् देशों द्वारा व्यापक स्तर पर संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यूनाइटेड नेशंस एनवायरमेंट प्रोग्राम) स्वीकार किया गया। 1970 ई. के दशक मे ही संयुक्त राष्ट्र संघ ने पश्चिमी अफ़्रीका में रेगिस्तान के विस्तार को रोकने का एक महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

1980 ई. के दशक में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने पर्यावरण एंव विकास से संबंधित विश्व–आयोग द्वारा ध्यानाकर्षित किए गए उन बिन्दुओं पर विचार किया, जिनमें बताया गया कि दीर्घकालिक या टिकाऊ विकास हमारा प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए, अन्यथा आने वाली नस्लों का आर्थिक विकास नहीं हो पाएगा। 1980 ई. का दशक संयुक्त राष्ट्र संघ के ध्वज तले विश्व के देशों द्वारा पर्यावरणीय चिन्ताओं के साझा किए जाने की दृष्टि से एक उल्लेखनीय दशक रहा। संघ के सदस्य राष्ट्रों के बीच ओज़ोन चादर के क्षरण और विषैले पदार्थों के उत्सर्जन से जुड़े अनेक समझौते इसी दशक में हुए।

iii- 1992 ई. का पृथ्वी–सम्मेलन

पर्यावरणीय चिन्ताओं के साझा किए जाने को लेकर 1990 ई. का दशक और अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। पर्यावरण पर हुए स्टाकहोम सम्मेलन के बीस वर्ष पूरे होने अवसर पर जून 1992 में ब्राजील की राजधानी रियो दी जेनेरियो में 'पर्यावरण व विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन' हुआ, जिसे 'पृथ्वी सम्मेलन' भी कहा जाता है, जिसमें 150 से अधिक राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन में पर्यावरण–संरक्षण से जुड़े अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर गंभीरता से विचार–विनिमय हुआ।

इस सम्मेलन की गम्भीरता का अनुमान इस आधार पर लगाया जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव बुतरस घाली स्वयं इस सम्मेलन में उपस्थित हुए। इस अवसर पर सम्मेलन की ओर से एक संयुक्त घोषणा पत्र जारी हुआ, जिसमें ज़ोर देकर कहा गया कि यह पृथ्वी 'मानव–जाति का घर' है और इसकी रक्षा के लिए राष्ट्रों के कर्त्तव्याधिकारों का स्पष्ट रूप से निर्धारण किया जाना चाहिए।

रियो दी जेनेरियो के पृथ्वी सम्मेलन में जलवायु–परिवर्तन के मुद्दे पर हुई संधि पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों ने स्वीकार किया कि वे 2000 ई. तक ख़तरनाक गैसों के उत्सर्जन को पुनः उस स्तर पर लाने का प्रयास करेंगे, जो 1990 ई. में था। तय हुआ कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए

विश्व–बैंक की ग्लोबल एनवायरमेंट फेसिलिटी के अन्तर्गत वित्तीय सहायता ली जा सकेगी। सम्मेलन में यह भी अपेक्षा की गई कि विश्व बैंक की ग्लोबल एनवायरमेंट फेसिलिटी के अन्तर्गत वित्तीय सहायता प्राप्त करके विकासशील देश इस धरा पर विद्यमान जैव–विविधता की रक्षा भी करें। सम्मेलन में आठ सौ पृष्ठ का एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ 'एजेंडा 21' तैयार किया गया। 'एजेंडा 21' में पर्यावरण को हानि पहुँचाने वाले उन अनेकानेक बिन्दुओं को गहराई से रेखांकित किया गया, जिन पर विश्व के देशों का ध्यान जाना चाहिए। सम्मेलन की व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपनी आर्थिक व सामाजिक परिषद के अन्तर्गत एक सतत विकास आयोग का गठन भी किया।

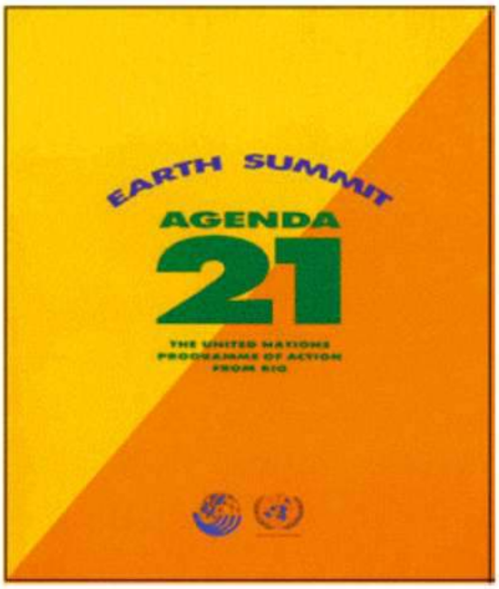

एजेण्डा 21– पृथ्वी–सम्मेलन 1992 में प्रकाशित पुस्तिका का मुख–पृष्ठ।

'पृथ्वी–सम्मेलन 1992' को दुनिया के इतिहास में इस रूप में अवश्य अंकित किया जाएगा कि पर्यावरण–संरक्षण के प्रश्नों पर हुए विमर्श में दक्षिण के विकासशील देशों के प्रतिनिधियों ने समुचित प्रमाण प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध कर दिया कि पर्यावरण को हानि पहुँचाने के लिए उत्तर के विकसित देश दक्षिण के विकासशील देशों की अपेक्षा अधिक दोषी हैं, तो सम्मेलन स्पष्टतः दो शिविरों में विभाजित दिखाई दिया। प्रमाणों के प्रकाश में विकसित देशों को यह मानना पड़ा कि वे विकासशील देशों को पर्याप्त आर्थिक अनुदान देंगे, जिससे 'एजेण्डा 21' को लागू करने में आसानी हो।

इससे यह और भी स्पष्ट हो गया कि विकसित देशों ने यह स्वीकार कर लिया कि कि पर्यावरण की हानि के लिए वे विकासशील देशों से कहीं अधिक उत्तरदायी हैं। यद्यपि उन्होंने विकासशील देशों को जितना अनुदान देने की स्वीकृति दी थी, उससे बहुत कम दिया। भले ही विकसित देशों ने विकासशील देशों को स्वीकृत पूरा अनुदान न दिया हो, यह तो स्पष्ट हो ही गया कि वे पर्यावरण–संरक्षण में अपनी एक बड़ी भूमिका स्वीकार तो करते ही हैं। कहा जा सकता है कि पृथ्वी–सम्मेलन में विकासशील देशों को इस तथ्य की स्थापना करने में पूरी सफलता मिली कि पर्यावरण को हानि पहुँचाने के लिए विकसित देश उनकी अपेक्षा अधिक उत्तरदायी हैं।

आज भी अमेरिका, जिसमें विश्व की केवल पाँच प्रतिशत आबादी निवास करती है, विश्व की लगभग पच्चीस प्रतिशत ऊर्जा को काम ले रहा है। दूसरी ओर भारत, जिसमें विश्व की सोलह प्रतिशत आबादी निवास करती है, विश्व की केवल तीन प्रतिशत ऊर्जा की ही खपत कर रहा है। इसी प्रकार अमेरिका जहाँ वायुमण्डल में बाइस प्रतिशत कार्बन डाइ आक्साइड का उत्सर्जन कर रहा है, वहीं भारत का हिस्सा इसमें सिर्फ़ तीन प्रतिशत है (ये आँकड़े तत्कालीन हैं, वर्तमान आँकड़े नेट पर देखें)। सम्मेलन में विकसित देशों के प्रतिनिधियों ने एक ओर बढ़ते पर्यावरणीय प्रदूषण के प्रति गहरी चिन्ता प्रदर्शित की, वहीं दूसरी ओर पर्यावरणीय प्रदूषण को रोकने से संबंधित संधियों पर हस्ताक्षर करने के समय वे मुँह फेरकर बैठ गए। विकसित देशों का यह दोहरापन किस तरह के उदारवादी लोकतन्त्र का प्रतिनिधित्व कर रहा है, समझ में नहीं आता। विकासशील देशों के समूह 77 के देशों ने रियो दी जेनेरियो सम्मेलन में विकसित देशों की जमकर आलोचना की। उनका

कहना था कि विकसित देश न केवल विषय की गंभीरता की उपेक्षा कर रहे हैं, अपितु पर्यावरणीय प्रदूषण को रोकने के लिए अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करने से दूर भी भाग रहे हैं।

i- 1992 ई. के पृथ्वी–सम्मेलन के बाद

रियो दी जेनेरियो में हुए 'पृथ्वी सम्मेलन 1992' की तर्ज़ पर ही जून 1997 में न्यूयार्क में एक और 'पृथ्वी सम्मेलन' आयोजित होना था, जिसमें रियो दी जेनेरियो सम्मेलन के पश्चात् हुई प्रगति का मूल्यांकन किया जाना था। दुर्योग से यह सम्मेलन अतीत के मुद्दों को दोहराने से अधिक कुछ न कर सका। यद्यपि इस बीच दुनिया में पर्यावरण–संरक्षण के विषय को केंद्र में रखकर अलग–अलग मंचों पर विश्व के देश विचार–विमर्श करते रहे, लेकिन इस दिशा में जो आशानुकूल प्रगति होनी चाहिए थी – वह नहीं हुई। इतना अवश्य हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण–संरक्षण का मुद्दा जीवित रहा।

इसी क्रम में दिसम्बर 1997 में जापान के क्योटो शहर में 'विश्व पर्यावरण व ग्रीन हाउस सम्मेलन' आयोजित हुआ, जिसमें मुख्यतः इस बिन्दु पर विमर्श हुआ कि वातावरण को गर्म करने वाली गैसों के उत्सर्जन को नियन्त्रित किस प्रकार किया जाए? इस समस्या के समाधान के लिए वहाँ उपस्थित अनेक राष्ट्रों ने अपने लिए वातावरण को गर्म करने वाली गैसों के उत्सर्जन की एक सीमा निर्धारित की। यह तय हुआ कि 2008 से 2012 ई. के मध्य यूरोपीय यूनियन के राष्ट्र वातावरण को गर्म करने वाली गैसों के उत्सर्जन को आठ, अमेरिका सात और जापान छह प्रतिशत तक न्यून कर लेंगे। आश्चर्य की बात है कि इस उत्सर्जन के नियन्त्रण की प्रक्रिया क्या होगी, इस पर इन समझदार देशों ने कोई निर्णय नहीं किया। यद्यपि अब तक विश्व के 141 देशों ने इस संधि के प्रति अपनी सहमति प्रकट की है, लेकिन अफ़सोस की बात है कि अमेरिका जैसे धनी राष्ट्र ने 2001 ई. में कार्बन डाइ ऑक्साइड गैस के उत्सर्जन को कम करने की विधियों को अत्यधिक व्ययपूर्ण बताते अपने क़दम पीछे हटा लिए। उल्लेखनीय है कि सोवियत संघ इस संधि में 2004 ई. में शामिल हुआ, जबकि भारत अभी आस्ट्रेलिया व चीन जैसे देशों के साथ इस संधि से बाहर ही है।

इसी क्रम में 2002 ई. में दक्षिण अफ्रीका के नगर जोहांसबर्ग में एक और पृथ्वी सम्मेलन सम्पन्न हुआ, जिसमें पुरानी चिंताएँ दोहराई गईं। कनाडा के माण्ट्रियल शहर में 2005 ई. में 'संयुक्त राष्ट्र जलवायु समझौता सम्मेलन' सम्पन्न हुआ। बाद में जलवायु–परिवर्तन के मसले पर 2009 ई. में डेनमार्क की राजधानी कोपनहेगन में भी एक सम्मेलन आयोजित हुआ।

अगला महत्वपूर्ण प्रयास नवम्बर–दिसम्बर, 2015 में हुआ। पेरिस में हुए जलवायु परिवर्तन सम्मेलन में 134 देशों ने भाग लिया था। जलवायु परिवर्तन के खतरनाक प्रभावों को कम करने के लिए लम्बे विचार विमर्श के पश्चात् वैश्विक तापमान रोकने के लिए एक सर्वमान्य समझौता हुआ। इस समझौते की भार्तें 2020 ई. तक लागू करना निश्चित हुआ।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि विश्व के देश पर्यावरण–संरक्षण के विषय में एक न्यूनतम साझा कार्यक्रम पर सहमत होने और उसे लागू करने हेतु निरन्तर प्रयासरत हैं। आशा की जानी चाहिए कि इन प्रयासों को पूर्णता प्राप्त होगी।

आतंकवाद

इसमें कोई सन्देह नहीं कि विश्व आज परमाणु–आयुधों के निशाने पर है। आज की दुनिया में कोई बड़ा देश भी किसी छोटे देश से युद्ध नहीं करना चाहता। वह जानता है कि अगर नासमझी में उस देश के प्रशासकों ने परमाणु–आयुधों का इस्तेमाल कर लिया, तो विनाश निश्चित है। विश्व के देश, जो वर्तमान में संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उस जैसी ही अन्य कई महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के सदस्य हैं, कमोबेश इस दबाव में रहते हैं कि परमाणु–आयुधों के पहले प्रयोग किए जाने का आक्षेप उन पर न आ जाए। उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे परमाणु–आयुधों का प्रयोग करना तो दूर, इस तरह के

बयान भी न दें कि वे प्रतिपक्षी को धराशायी करने के लिए परमाणु–आयुधों का इस्तेमाल कर सकते हैं। देशों पर इस तरह का दबाव किसी न किसी रूप में शक्ति का संतुलन बनाए रखता है।

विश्व के देशों पर जो लोग शासन कर रहे है, वे आम तौर पर किसी न किसी जनतांत्रिक व्यवस्था से गुज़रकर ही आए हैं। कोई भी अनुत्तरदायित्त्वपूर्ण कार्य करने से पूर्व उन्हें अनेक बार सोचना व समझना होता है। आम तौर पर विश्व की जनता यह विश्वास करती है कि उत्तरदायी पदों पर बैठे व्यक्ति परमाणु–आयुधों का इस्तेमाल नहीं करेंगे।

चिन्ता तो इस बात की है कि यदि ये परमाणु–आयुध ऐसे लोगों के हाथों में आ गए, जो किसी तन्त्र से गुज़रकर नहीं आए हैं और आतंक के बल पर विश्व की शान्ति को नष्ट करना चाहते हैं, तो क्या होगा? ऐसे लोग अपने ख़तरनाक इरादों को पूरा करने के लिए संगठन बनाकर काम करते हैं और सामान्यतया आतंकवादी कहलाते हैं। इस दृष्टि से विश्व में इस समय जो सबसे बड़ी समस्या है, वह है आतंकवादियों की समस्या। आतंकवादी गतिविधियों में लिप्त हिंसक व अराजक लोगों को यदि समय रहते वश में नहीं किया गया, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं कि यह खूबसूरत ग्रह पृथ्वी, मानव–जाति से रहित हो जाए।

I- आतंकवाद का अर्थ

'आतंकवाद' एक समानुपाती अर्थ रखने वाला शब्द है, जिसकी आतंकवाद के समर्थक व विरोधी अपने–अपने तरीक़े से विवेचना करते हैं। राजनैतिक शब्दावली में 'आतंकवाद' हिंसा पर आधारित वह परिघटना है, जिसके अन्तर्गत कुछ लोग किसी भी राष्ट्र की वैध सत्ता के विरुद्ध उसे अस्थिर करने अथवा उस पर कब्ज़ा करने की कोशिश करते हैं।

किसी वैध राजसत्ता के समर्थकों के लिए कोई भी आतंकवादी 'देशद्रोही' और 'खलनायक' होता है, जबकि उसके विरोधियों के लिए वह 'देशप्रेमी' और 'जननायक' हो जाता है। उदाहरणार्थ रूसी क्रांति का नेता लेनिन जहाँ ज़ार के लिए 'खलनायक' था, वहीं क्रांति के समर्थकों के लिए 'जननायक' था। विडम्बना ही कही जानी चाहिए कि सोवियत संघ के पतन के समय लेनिन की छवि 'जननायक' जैसी नहीं रही, बल्कि परिवर्तन चाहने वाले लोगों के लिए तो वह फिर से 'खलनायक' ही हो गया। इस प्रकार आतंकवाद एक समानुपाती अर्थ रखने वाला शब्द है।

चीनी क्रांति का नायक माओ, जो कभी च्यांग काई शेक की दृष्टि में आतंकवादी था – वही बाद में चीन का 'जनदेवता' हो गया। ब्रिटिश सत्ता ने – जो भारत में वैध रूप में स्थापित नहीं थी –भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आज़ाद, सुभाषचन्द्र बोस जैसे हमारे अनेक राष्ट्रनायकों को आतंकवादी ही माना, क्योंकि वे उसे उखाड़ फेंकने के लिए प्रतिबद्ध थे। वस्तुतः कोई राजसत्ता नहीं, बल्कि इतिहास ही तय करता है कि कौन देशप्रेमी था और कौन देशद्रोही था।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आतंकवाद की किसी एक परिभाषा पर सभी देश सहमत हो जाएँ, यह संभव नहीं लगता। कश्मीर में संहार करने वाले आतंकवादियों को पाकिस्तान कभी भी आतंकवादी नहीं कहेगा, क्योंकि वह उनका पोषण करता है। इस प्रकार के विरोधाभास में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आतंकवाद की सर्वमान्य परिभाषा पर सहमति स्थापित होना नामुमकिन ही है। फिर भी संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्थाओं ने इस तरह के कुछ प्रयास किए हैं, जिनके प्रकाश में आतंकवाद की परिभाषा व प्रकृति के सम्बन्ध में सहमति का एक धरातल तैयार किया जा सके।

इस बात से कि दहशत से किसी को फ़ायदा नहीं होता – न तो वह देश इन्कार कर सकता है, जो आतंकवाद का शिकार हुआ है और न ही वह देश इंकार करता है, जो आतंकवाद का पोषक बना हुआ है। बेल्जियम के अध्येता फेरिक

डेविड ने 'आतंकवाद' को इस तरह परिभाषित करने का प्रयास किया है, 'राजनैतिक, सामाजिक, दार्शनिक, वैचारिक अथवा मज़हबी उद्देश्यों के लिए किया गया कोई भी सशस्त्र हिंसक कृत्य 'आतंकवाद' है, जो मानवीय विधान के आदेशों का उल्लंघन करता हो। मानवीय विधान में किसी के भी विरुद्ध क्रूर व बर्बर तरीक़े अपनाने, असैनिक ठिकानों तथा निर्दोष व्यक्तियों पर आक्रमण करने आदि का निषेध किया गया है'।

बर्गर महोदय कहते हैं कि किसी आतंकवादी को उसके तात्कालिक लक्ष्य के सन्दर्भ में ठीक तरह से परिभाषित किया जा सकता है। तात्कालिक लक्ष्य से तात्पर्य है, 'भय उत्पन्न करके बल का प्रयोग करना और अपना लक्ष्य हासिल कर लेना।'

ii- आतंकवाद का आधुनिक व संस्थागत स्वरूप

आधुनिक विश्व में जो आतंकवाद दिखाई दे रहा है, जेहादी आतंकवाद है तथा उसका सबसे घृणास्पद पक्ष यह है कि वह पहले की तरह अब कुछ विशिष्ट लोगों और ठिकानों को ही निशाना नहीं बनाता, बल्कि अब तो उसके निशाने पर मासूम बच्चे व माताएँ–बहिनें भी होती हैं। यह मानवता के लिए कितनी लज्जाजनक स्थिति है कि ईश्वर ने जिन्हें मानव बनाया है, वे दानव बनकर हिंसा का नग्न नृत्य कर रहे हैं।

कुछ विशेष घटनाओं के उल्लेख से आधुनिक आतंकवाद की प्रकृति को समझा जा सकता है – जैसे 1969 ई. में यहूदियों के एक समूह द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ में सीरिया के प्रतिनिधिमण्डल के कार्यालय पर हमला किया जाना, 1971 ई. में संयुक्त राष्ट्र संघ के ईराकी मिशन के कार्यालय पर पेट्रोल बम फेंका जाना, 1999 ई. में काठमाँडू से भारतीय विमान का अपहरण किया जाना, 2001 ई. अमेरिका के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हमला किया जाना, 2001 ई. में ही में ही भारतीय संसद पर हमला किया जाना आदि।

आतंकवादियों ने दिसम्बर 1999 में काठमाँडू के त्रिभुवन हवाई अड्डे से 176 यात्रियों से भरे एक भारतीय विमान का अपहरण कर लिया और उसे – अमृतसर, लाहौर, दुबई होते हुए – अफ़ग़ानिस्तान के कंधार हवाई अड्डे पर ले गए और अपनी शर्तें पूरी न होने की स्थिति में सभी यात्रियों व कर्मचारियों की हत्या करने की धमकियाँ देने लगे। सात दिनों तक चले इस राष्ट्रव्यापी संकट का अंत तब हुआ, जब अटलबिहारी वाजपेयी के नेतृत्त्व में काम कर रहे भारतीय शासन को अपनी क़ैद से तीन ख़तरनाक जेहादी आतंकवादियों – मसूद अज़हर, उमर सईद शेख़ और मुशताक़ अहमद ज़रगर – को छोड़ना पड़ा। इससे पहले 1989 ई. में वी. पी. सिंह की सरकार को भी पाँच दुर्दांत आतंकवादियों को छोड़ना पड़ा था, जब तत्कालीन केंद्रीय गृह–मंत्री मुफ़्ती मोहम्मद सईद की पुत्री रुबैया सईद का श्रीनगर से अपहरण कर लिया गया था। इस तरह की घटनाएँ देश में इस्लामी आतंकवाद की गहरी जड़ों की पुष्टि करती हैं, जिसके कारण स्थिरता व शांति को गहरा आघात पहुँचता है।

उल्लेखनीय है कि 1999 ई. में हुए विमान–अपहरण के परिणामस्वरूप छोड़ा गया ख़तरनाक आतंकवादी मसूद अज़हर कुछ माह पश्चात 13 दिसम्बर 2001 को नई दिल्ली में हमारी पवित्र संसद पर हुए कायरतापूर्ण हमले का मास्टर–माइण्ड बना तथा आतंकवादी हमले के आरोपी अफजल गुरु को बाद में 2013 ई. में तिहाड़ जेल में फाँसी पर चढ़ाया गया।

भारत की पवित्र संसद, जिस पर 13 दिसम्बर 2001 को आतंकवादी–आक्रमण हुआ।

इसी क्रम में 26 नवम्बर से 28 नवम्बर 2008 तक मुम्बई में हुए

श्रृंखलाबद्ध बम–विस्फोटों में आतंकवादियों ने 137 निर्दोष भारतीयों व अन्य को मार डाला। आतंकवादियों के विरुद्ध की कार्रवाई में जीवित पकड़े गए एक पाकिस्तानी आतंकवादी मुहम्मद अजमल आमिर क़साब को 2012 ई. में पुणे की यरवदा जेल में फ़ाँसी पर चढ़ा दिया गया।

11 सितम्बर 2001 ई. को अमेरिका के चार विमानों का अपहरण करके आतंकवादियों ने वहाँ के अनेक स्थानों पर हमले किए। उन्होंने न्यूयार्क के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर को ध्वस्त कर दिया। अपहरणकर्त्ताओं ने अमेरिका के प्रतिरक्षा–विभाग के मुख्यालय पेण्टागन पर भी हमला किया। ये हमले अमेरिका की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुँचाने वाले थे। इसका बदला लेने के लिए 02 मई 2011 को अमेरिका ने पाकिस्तान में गुप्त कार्यवाही करके वहाँ छुपे हुए आतंकवादी और उस पर किए गए हमलों के मास्टरमाइण्ड ओसामा बिन लादेन को मार डाला।

11 सितम्बर 2001 को अमेरिका के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर पर आतंकी हमला हुआ।

कुख्यात आतंकवादी–संगठन 'इस्लामिक स्टेट' (आईएस) – जो आईएसआईएस (इस्लामिक स्टेट ऑफ़ इराक़ एण्ड सीरिया) अथवा आईएसआईएल (इस्लामिक स्टेट ऑफ़ इराक़ एण्ड लेवांत) के नाम से भी जाना जाता है – का निर्माण 2013 ई. में हुआ है। इस संगठन के काम करने का तरीक़ा अलक़ायदा से भी अधिक क्रूर है। आईएस अपने समय का दुनिया का सबसे धनी आतंकवादी संगठन है और इस संगठन का उद्देश्य विश्व के सभी मुस्लिम–जनसंख्या वाले देशों को अपने प्रत्यक्ष नियंत्रण में लेना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पहले यह लेवांत क्षेत्र – जार्डन, इज़राइल, फिलिस्तीन, लेबनान, कुवैत, साइप्रस तथा दक्षिणी तुर्की का कुछ हिस्सा – को अपने अधिकार में लेना चाहता है और इसके बाद अपना अधिक विस्तार करना चाहता है। इस नीति के तहत मज़हबी दबाव बनाने के लिए आईएस ने 2014 ई. से ही अपने मुखिया अबूबक्र अल बग़दादी को सभी मुसलमानों का ख़लीफ़ा घोषित कर रखा है। इस संगठन के आतंकवादी इतने शातिर हैं कि पहले तो वे किसी देश में अशांति पैदा करते हैं या पहले से पैदा अशांति को बढ़ावा देते हैं और बाद में उस देश से पड़ोसी देशों में पलायन कर रहे शरणार्थियों के साथ स्वयं भी उन देशों की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति को सीरिया के उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है।

सीरिया में राष्ट्रपति बशर अल असद के विरुद्ध मार्च 2011 में आंदोलन प्रारम्भ हुआ। इस आंदोलन के तार सारे उत्तर–पूर्व में चल रही अरब–क्रांति से जोड़े जाते हैं। सीरियाई सेना ने जब प्रदर्शनकारियों को रोका, तो आंदोलन ने हिंसक रूप ले लिया। दो ही वर्षों में स्थिति यह बन गई कि सीरिया की लगभग आधी ज़मीन व आधी आबादी अल बशर के नियंत्रण से निकल गई। ऐसे वातावरण में आईएस को अपना एजेण्डा पूरा करने का अवसर आसानी से मिल गया। उसकी फैलाई दहशत के मारे लोग अपने प्राण संकट में पाने लगे। लाखों सीरियावासी शरणार्थियों के रूप में दूसरे देशों में प्रवेश करने हेतु इधर–उधर भागने लगे। यहाँ तक कि उन्हें अपने बच्चों तक को ख़तरे में डालना पड़ा।

तुर्की के समुद्र तट पर मृत पाया गए
तीन वर्ष का बच्चा आलन कुर्दी

सीरिया संकट के परिप्रेक्ष्य में तुर्की के समुद्र तट पर मृत पाए गए तीन वर्ष के एक बच्चे आलन कुर्दी के शव ने पूरी दुनिया को झकझोर दिया। आलन का पिता अब्दुला अपने परिवार को यूनान ले जाना चाहता था – लेकिन सीमा पार करने के उपक्रम में वह नाव समुद्र में डूब गई, जिसमें उसका परिवार यात्रा कर रहा था। इस दुर्घटना में उसका पुत्र आलन कुर्दी पानी में डूब गया, जो बाद में मृत अवस्था में समुद्र–तट पर मिला। सोशल मीडिया पर वाइरल हुए आलन कुर्दी के चित्र ने शरणार्थी और उससे जुड़ी आतंकवाद की समस्या को अंतर्राष्ट्रीय पटल पर अत्यंत मार्मिक रूप से प्रकट किया।

आईएस के ख़तरनाक रवैये का एक उदाहरण यह भी है कि इस संगठन के आतंकवादी इराक़ के यज़ीदी समुदाय के पीछे भी पड़े हैं। यज़ीदी समुदाय के अनुयायी अनेक मत–पंथों के मिले–जुले रिवाज़ों का पालन करते हैं।

'आतंकवाद' का एक और विकृत रूप यह है कि झूठे मज़हबी उन्माद में बहकर दिग्भ्रमित हो चुके युवा आजकल स्वयं को 'मानव–बम' बनाने की सीमा तक चले जाते हैं। आतंकवाद विश्व में एक संस्थागत रूप लेता जा रहा है। आश्चर्य की बात है कि निजी स्वार्थ तथा कूटनीतिक दुष्चक्र से घिरे हुए अनेक देश जो स्वयं अपनी भूमि पर आतंकवाद के शिकार हो रहे हैं, वे दूसरे देशों की भूमि पर आतंकी गतिविधियों को बड़े ही योजनाबद्ध ढंग से प्रोत्साहन देते हैं।

वर्तमान में जब अमेरिका जैसा बड़ा व सक्षम देश भी अपनी भूमि पर आतंकवाद से संघर्ष करने में लगा हुआ है – तब अल्ज़ीरिया, इराक़, सीरिया, अफ़ग़ानिस्तान के साथ–साथ अफ्रीका महाद्वीप के विभिन्न देशों का इस समस्या से घिरना तो सामान्य–सी बात है। रूस के पड़ोस में चेचन्या को केन्द्र बनाकर आतंकवादियों ने इतनी अशान्ति उत्पन्न की है कि रूस को आख़िरकार सैन्य कार्रवाई करनी पड़ी। चीन के उत्तरी–पश्चिमी हिस्से शिनच्यॉंग में 1988 ई. से ही आतंकवादी सक्रिय हैं। अल्ज़ीरिया में भी हज़ारों लोग आतंकवादियों द्वारा मारे जा चुके हैं। सूडान 1950 ई. के दशक से ही आतंकवाद के रोग से ग्रसित है। सबसे ख़तरनाक बात यह है कि ये आतंकी संगठन प्रायोजित रूप में चल रहे हैं। दुनिया में अनेक ऐसे देश हैं – जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आतंकवादियों को जन, धन व सुरक्षा उपलब्ध करवाते हैं तथा अपने प्रतिद्वंद्वी राष्ट्रों के विरुद्ध आतंकवादी संगठनों का यंत्र के रूप में इस्तेमाल करते हैं।

i-अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास

विश्व की सर्वोच्य संस्था, जहाँ आतंकवाद से पीड़ित राष्ट्र उससे मुक्ति पाने हेतु सहयोग के लिए आवेदन कर सकते हैं, वह संयुक्त राष्ट्र संघ है। विश्व–कल्याण के अनेक मुद्दों की ही तरह आतंकवाद पर भी अब तक संयुक्त राष्ट्र संघ ने उदासीनता का परिचय नहीं दिया है। आतंकवाद के विरुद्ध विश्व की इस सर्वोच्य संस्था ने निश्चित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून को ठीक प्रकार से समृद्ध किया है, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय कानून में अनेक ख़ामियाँ भी हैं – जिन्हें दूर करना इसके वश में नहीं है। सबसे बड़ी ख़ामी तो यही है कि इस कानून को देशों पर बाध्यकारी रूप से लागू नहीं किया जा सकता, फिर भी संयुक्त राष्ट्र संघ ने इतनी सफलता तो अर्जित की ही है कि वह इन देशों पर इस प्रकार का नैतिक बंधन आरोपित कर सका कि वे किसी भी रूप में आतंकवाद को बढ़ावा न दें, क्योंकि इससे विश्व–शांति के लिए ख़तरा उत्पन्न होता है। संयुक्त राष्ट्र संघ की पहल के चलते दुनिया में आतंकवाद पर विशेष नियंत्रण तो स्थापित नहीं हुआ – किंतु आतंकवाद को रोका कैसे जाए, इस प्रश्न पर गहन विमर्श अवश्य प्रारम्भ हो गया। विश्व को आतंकवाद की समस्या से छुटकारा दिलाने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने समय–समय पर अपनी विभिन्न एजेंसियों के माध्यम से अन्तरराष्ट्रीय कानून के दस्तावेज़ों और समझौतों की शर्तो को तैयार करवाया है। इस प्रकार के कुछ दस्तावेज़ और समझौते ये हैं –

- 1963 ई. में टोक्यो में एक कन्वेंशन (करार, समझौता,

अभिसमय) प्रस्तुत किया गया, जिसमें विमानों से सम्बंधित अपराधों पर रोकथाम के उपाय सुझाए गए थे।

- 1970 ई. में हेग में एक करार प्रस्तुत हुआ, जिसमें विमानों पर गैरविधिक कब्ज़े को रोकने हेतु कुछ महत्त्वपूर्ण प्रावधान सम्मिलित थे।
- 1973 ई. में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सुरक्षा प्राप्त लोगों के प्रति अपराधों के रोकने व अपराधियों को दण्डित करने से सम्बंधित एक समझौता न्यूयार्क में प्रस्तुत किया गया।
- आणविक सामग्री की सुरक्षा पर 1988 ई. में रोम में समुद्री नौकायन की सुरक्षा के सम्बन्ध में एक समझौता प्रस्तुत किया गया।

एजेंसियों के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में भी कुछ महत्त्वपूर्ण कंवेंशन पेश किए, जो इस प्रकार हैं –

- 1979 ई. में लोगों को बंधक बनाने के विरुद्ध एक समझौता प्रस्तुत किया गया, जिसमें प्रावधान था कि पक्षकार राज्य संबंधित राज्य को अपराधियों का प्रत्यर्पण करेगा। यदि पक्षकार राज्य संबंधित राज्य को अपराधियों का प्रत्यर्पण नहीं करेगा, तो अपने यहाँ उन पर अभियोजन चलाएगा।
- संयुक्त राष्ट्र संघ के कर्मचारियों पर हमलों के विरुद्ध एक समझौता संघ की महासभा में 1994 ई. में रखा गया।
- आतंकवाद के पक्ष में वित्त–पोषण करने वाले अपराधियों को पक्षकार राज्य संबंधित राज्यों को प्रत्यर्पित करेंगे, इस आशय का एक समझौता 1999 ई. में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में रखा गया।

इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने 1994 ई. में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर पनप रहे आतंकवाद की समाप्ति के उपायों पर एक घोषणा भी जारी की थी। इस घोषणा को लागू करने के लिए प्रयास किए जाएँ, इस हेतु 1996 ई. में एक और घोषणा की गई। इसी सन्दर्भ में उल्लेखनीय है 1993 ई. में हुए महासभा के अड़तालीसवें अधिवेशन में इस आशय का प्रस्ताव भी सर्वसम्मति से पारित हुआ कि आतंकवाद मानवाधिकारों की सिद्धि के मार्ग में एक बाधा है।

सितम्बर 2001 में अमेरिका पर हुए आतंकवादी हमलों के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद ने एक निंदा–संकल्प पारित किया। बाद में आतंकवाद का मुक़ाबला करने हेतु सुझाए गए व्यापक उपायों पर भी एक संकल्प पारित किया गया। आतंकवाद का मुक़ाबला करने के लिए भारत द्वारा प्रस्तुत एक अभिसमय (कन्वेंशन) संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में 1996 ई. से ही प्रस्तावित है।

स्पष्ट है कि विश्व में आतंकवाद का प्रसार आधुनिक विश्व के समक्ष एक बड़ी चुनौती है, जिसका प्रतिकार विश्व–समुदाय को अत्यन्त धैर्य, दृढ़ता व एकजुटता से करना होगा।

1. वर्तमान भारत की वैश्विक दृष्टि : लुक ईस्ट, ब्रिक्स और दक्षेस (सार्क)

किसी भी राष्ट्र की दुनिया में प्रतिष्ठा उसके अन्य राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों पर निर्भर करती है। यदि किसी राष्ट्र ने अन्य राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्धों में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों और जन–भावनाओं का ध्यान नहीं रखा है, तो यह मान लेना चाहिए कि वह न केवल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पिछड़ा हुआ राष्ट्र है, अपितु अन्तःराष्ट्रीय स्तर पर भी उसकी गतिविधियाँ लोक–कल्याणकारी नहीं हैं।

कोई भी राष्ट्र विश्व को किस दृष्टि से देखता है, यह उसके राजनैतिक नेतृत्व पर सर्वाधिक निर्भर करता है। हमारा भारत दुनिया का एक ऐसा राष्ट्र है, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर सदैव प्रेम व भाईचारे के स्वर गुंजायमान किए हैं। यद्यपि इस देश का नेतृत्व करने वाले राजनैतिक दल व उनके नेता समय–समय पर बदलते रहे हैं, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर भारत का स्वर सदैव मानवतावादी रहा है।

यदि 1947 ई. को हम काल की एक सीमा–रेखा स्वीकार कर लें, तो यह पाते हैं कि भारत की परराष्ट्र–नीति इस सीमा–रेखा के उधर और इधर – दोनों ही तरफ़ – उदार दिखाई देती है।

हजारों वर्षों से हम भारतवासी विदेशी आक्रमण और घुसपैठ झेलते आए हैं, लेकिन हमने कभी बदले की कार्रवाई नहीं की। बदले की कार्रवाई करने के बजाय हमने आक्रान्ताओं का आत्मसातीकरण किया। एक ओर हमने उनकी सामाजिक–सांस्कृतिक विशेषताओं का सम्मान किया, तो दूसरी ओर उन्हें अपने सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण में घुलने–मिलने का पूरा अवसर भी दिया। सारा संसार जानता है कि भारतीय परिक्षेत्र के लोगों में आत्मसातीकरण की एक निर्मल अन्तर्धारा बहती रही है। अतः जो भारत में आया, वह 'भारतीय' होकर रह गया।

जिन लोगों को आत्मसातीकरण की यह निर्मल अंतर्धारा पसंद नहीं आई, जिन प्रतिस्पर्द्धी राष्ट्रों को दुनिया का नेतृत्त्व करता हुआ भारत अच्छा नहीं लगा उन्होंने इस धारा को दूषित करने के पूरे प्रयास किए। इस कारण भारत सदैव ही राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय चुनौतियों से घिरा रहा है। ये चुनौतियाँ 1947 ई. की सीमा–रेखा के उधर भी थीं और इधर भी हैं।

वर्तमान में भारत के समक्ष दो महत्त्वपूर्ण चुनौतियाँ प्रत्यक्ष हो रही हैं, जिनमें से एक बाज़ारवाद है और दूसरी है आतंकवाद। दोनों ही चुनौतियाँ परस्पर बहुत अधिक सम्बद्ध हैं। प्रारम्भ से ही भारत जिस वैश्विक दृष्टिकोण को लेकर चल रहा है, उसमें अपने पड़ोसियों की चिंता करना प्रमुख रूप से शामिल है। भारत अपने पड़ोसियों की चिन्ता करने के साथ–साथ सारे विश्व की ओर अपनी नज़र रखता है, जिसके कारण उसके दृष्टिकोण में और भी अधिक उदारता व व्यापकता आ जाती है। दूसरी ओर, हमारे पड़ौसी राष्ट्र राजनैतिक अस्थिरता और आर्थिक विपन्नता के शिकार होने के कारण संकीर्णता के दायरे से कभी बाहर नहीं निकल पाते।

प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने भारत को गुट–निरपेक्षता का जो मार्ग दिखाया, उस पर चलना उनके बाद आने वाले प्रधानमंत्रियों ने भी अपना कर्त्तव्य समझा। यद्यपि नेहरू को 1962 ई. में चीन का विश्वासघात झेलना पड़ा, लेकिन इस घटना के बाद भी उनके उत्तराधिकारियों ने कभी किसी एक गुट के समक्ष समर्पण नहीं किया, यद्यपि भारत के रूस के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध शीत–युद्ध की समाप्ति तक बने रहे।

लालबहादुर शास्त्री, इंदिरा गाँधी और अटलबिहारी वाजपेयी के दौर में भारत को पाकिस्तान से प्रत्यक्ष संघर्ष करना पड़ा, लेकिन दुनिया जानती है कि भारत ने पाकिस्तान पर पहले आक्रमण कभी नहीं किया। इस संदर्भ में हम विश्व को यह समझाने में सफल हुए हैं कि 1965 ई. में हम आत्मरक्षा के मार्ग पर थे, 1971 ई. में पीड़ित बांग्लादेशियों की मुक्ति हमारा लक्ष्य था और 1999 ई. में घर में ही चढ़ आए शत्रु को बाहर निकालकर आतंकवाद के मुँह पर तमाचा मारना हमारे लिए अत्यावश्यक था।

1977 ई. में आई जनता सरकार की विदेश–नीति में पड़ोसियों के प्रति अत्यन्त खुलापन नज़र आया। विदेश–मंत्री अटलबिहारी वाजपेयी की चीन–यात्रा ने दोनों देशों के सम्बन्ध मधुर होने की उम्मीद जगाई, किन्तु चीन द्वारा वियतनाम पर आक्रमण कर दिए जाने के कारण वाजपेयी ने यात्रा बीच में ही भंग कर दी। यह वह निर्णायक मोड़ था, जहाँ चीन को यह समझ में आ गया कि नया भारत 1962 ई. का, दबाव में आ जाने वाला, भारत नहीं रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के 32 वें अधिवेशन में वाजपेयी ने हिन्दी में भाषण देकर सारी दुनिया को भारतीय स्वाभिमान का संदेश दे दिया। बाद में श्रीमती इंदिरा गाँधी व राजीव गाँधी के काल में भी भारत की विदेश–नीति अपनी स्थापित परम्परा के अनुसार चलती रही। दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ (सार्क) के गठन में राजीव गाँधी ने भारत की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका सुनिश्चित की थी। शीत–युद्ध के पश्चात् के विश्व में भी भारत ने एक सन्तुलनकारी, किन्तु अपने हितों के प्रति जागरूक रहने वाले राष्ट्र की छवि बनाए रखी। आई. के. गुजराल, जो एच. डी. देवगौड़ा के बाद प्रधानमंत्री बने थे, के काल में 1997 ई. की भारत–अमेरिका प्रत्यर्पण संधि हुई, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है। विदेश–मंत्री रहते हुए उनके द्वारा दिए गए 'गुजराल सिद्धांत' का उल्लेख कई बार अकादमिक संगोष्ठियों में होता है। सोवियत संघ के अवसान के बाद के उथल–पुथल भरे दौर में उन्होंने एक पंचसूत्रीय सिद्धांत 'गुजराल सिद्धांत' दिया था। इस सिद्धांत के अनुसार बांग्लादेश, मालदीव, नेपाल, श्रीलंका और भूटान जैसे छोटे देशों से भारत बराबरी की अपेक्षा नहीं करेगा। गुजराल के अनुसार दक्षिण एशिया के देश अपनी भूमि से किसी दूसरे देश के ख़िलाफ़ गतिविधियाँ नहीं चलाएँगे, एक–दूसरे की संप्रभुता और अखंडता का सम्मान करेंगे, किसी के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे और अपने विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से निपटाएँगे।

1998 से 2004 ई. तक चले अटलबिहारी वाजपेयी के शासनकाल के प्रारम्भ में भारत ने दो परमाणु–विस्फोट किए और वह परमाणु–शक्ति–सम्पन्न देशों के क्लब में शामिल हो गया। वाजपेयी ने परमाणु–परीक्षण के माध्यम से 1974 ई. के पश्चात् विश्व को एक बार फिर यह संदेश दे दिया कि भारत हर स्थिति में अपनी रक्षा करने में सक्षम है। साथ ही वाजपेयी ने 1998 ई. में न्यूयार्क में आयोजित संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के 53वें सत्र में निरस्त्रीकरण के प्रति एक नीति भी प्रस्तुत की, जिसमें अपेक्षा की गई थी कि पहले बड़े राष्ट्र – जिनके पास परमाणु–आयुधों के बड़े भण्डार हैं, निरस्त्रीकरण प्रारम्भ करें।

वाजपेयी के काल में ही प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के 150 वर्ष पूरे होने का समारोह भारत, पाकिस्तान व बांग्लादेश द्वारा संयुक्त रूप से मनाने का निर्णय लिया। सितम्बर 2000 ई. में वाजपेयी की अमेरिका–यात्रा इस बात के लिए याद की जाएगी कि उन्होंने अमेरिका को सीटीबीटी (कॉम्प्रिहेंसिव न्यूक्लियर–टेस्ट बैन ट्रीटी) पर भारत के हस्ताक्षर करने का कोई आश्वासन नहीं दिया। सीटीबीटी अर्थात् व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि एक ऐसी संधि है, जो कूटनैतिक दृष्टि से भारत के हित में नहीं है। स्पष्ट है कि प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी के काल में भारत की वैश्विक दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किसी प्रकार के दबाव को झेलने का कोई स्थान नहीं था।

जहाँ तक पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों का प्रश्न है, वाजपेयी ने फ़रवरी 1999 में बस से जो लाहौर–यात्रा की थी, वह उन्हें वैदेशिक मामलों में 'अद्भुत पहल करने वाले राजनेता' के रूप में प्रतिष्ठित कर गई। भारत का नेतृत्त्व तो अद्भुत पहल करने वाला था, लेकिन पाकिस्तान का नेतृत्व इस मामले में बहुत कमज़ोर था। एक ओर प्रधानमंत्री नवाज़ शरीफ़ ने अटलजी के साथ सहृदयता दिखाई, तो दूसरी ओर पाकिस्तान की सेना ने भारत पर युद्ध थोप दिया, जिसे इतिहास में करगिल–युद्ध कहा जाता है। इस युद्ध में पाकिस्तान को न

केवल अपमानजनक पराजय का सामना करना पड़ा, अपितु विश्व–पटल पर वह अकेला भी पड़ गया। इस युद्ध में अमेरिका की तरफ़ से उसे गहरी निराशा का सामना करना पड़ा और चीन ने भी उसे भारत से लड़ने के लिए अकेला छोड़ दिया।

पूर्ववर्ती प्रधानमंत्रियों की ठोस व सक्रिय कार्यशैली के परिणामस्वरूप वाजपेयी के बाद कमान सँभालने वाले मनमोहन सिंह को भी एक सुगम मार्ग मिल गया, जिस पर चलकर उन्होंने अपना कार्यकाल पूरा किया।

मई 2014 में, जब नरेन्द्र मोदी को प्रधानमंत्री बनने का अवसर मिला – विश्व ने भारत की ओर नई उत्सुकता से देखना शुरू किया। विश्व जानना चाहता था कि अब भारत की विदेश–नीति की प्राथमिकताओं में कौन–कौन से नए परिवर्तन अपेक्षित होंगे। विदेश यात्राओं के क्रम में प्रत्येक देश ने अपनी भूमि पर मोदी का उत्साहपूर्वक स्वागत किया।

मोदी ने अपनी विदेश–यात्राओं में बार–बार स्पष्ट किया है कि विश्व के देशों में किसी भी मुद्दे को लेकर मतभेद सामने आ सकते हैं, लेकिन विकास के मुद्दे पर उनमें सदैव सहमति ही दिखाई देगी। इसलिए दुनिया के देशों को विकास के मुद्दे पर एक हो जाना चाहिए। यह विश्व–राजनीति में एक नया प्रयोग है, जिसे 'मोदी–प्रयोग' कहा जा सकता है। 'मोदी–प्रयोग' के साथ ही अब वह समय भी आ गया है कि उन सभी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में, जिनसे भारत की सम्बद्धता है, हम अपनी भूमिका को पुनर्रेखांकित करें। इस सम्बंध में प्रतिदर्श के रूप में लुक ईस्ट पॉलिसी, ब्रिक्स समूह व सार्क के सम्बन्ध में भारत की वैश्विक दृष्टि का मूल्यांकन किया जाना समीचीन होगा।

अ. लुक ईस्ट पॉलिसी

दक्षिण–पूर्वी एशिया की ओर भारत का ध्यान जाना कोई नई बात नहीं है। शताब्दियों से हमारा संपर्क दक्षिणी–पूर्वी एशिया के देशों से है, लेकिन सोवियत संघ के विखण्डन के पश्चात् दक्षिणी–पूर्वी एशियाई देशों के प्रति भारत विशेष रूप से सचेत हुआ है। भारत ने इन देशों के साथ व्यापारिक व सामरिक संबंधों को प्रगाढ़ करने की दिशा में अतिरिक्त श्रम किया है। प्रधानमंत्री पी. वी. नरसिंहराव के काल से प्रारंभ हुआ दक्षिणी–पूर्वी एशियाई देशों के साथ भारत का विशेष सम्पर्क–अभियान बाद में अटलबिहारी वाजपेयी और मनमोहन सिंह के काल में भी ठोस रूप से चलता रहा।

1979 ई. में चीन के एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरने के कारण उसे अनेक देशों में अधिनायकवादी अलोकतांत्रिक शासन को समर्थन देने में अत्यधिक आसानी हो गई। उसके द्वारा बर्मा, जिसका आधिकारिक नाम 1989 ई. में 'म्यॉंमार' हो गया, में वहाँ के ग़ैरकानूनी सैनिक गुटों का साथ देना इसका स्पष्ट उदाहरण है। इसीलिए भारत ने शीत–युद्ध की समाप्ति के बाद अपनी रणनीति में एक आधारभूत परिवर्तन यह किया कि लोकतांत्रिक शक्तियों का समर्थन करते हुए भी किसी देश पर यदि अलोकतांत्रिक सत्ता क़ाबिज़ है, तो उससे संवाद स्थापित किया जाए। माना गया कि इससे वहाँ लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में कुछ तो आगे बढ़ा ही जा सकेगा। म्यॉंमार इसका उदाहरण है। म्यॉंमार के उपराष्ट्राध्यक्ष जनरल आई ने नवम्बर 2000 की अपनी भारत–यात्रा में हमें आश्वस्त किया कि म्यॉंमार भारत के विरुद्ध काम कर रहे हिंसक आंदोलनकारियों को किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं देगा।

आसियान के अनौपचारिक शिखर–सम्मेलन

क्रम	वर्ष	देश	देश (नगर)
1	1976	इण्डोनेशिया	बाली
2	1977	मलेशिया	कुआलालंपुर
3	1987	फिलीपीन्स	मनीला
4	1992	सिंगापुर	सिंगापुर
5	1995	थाईलैण्ड	बैंकाक
6	1998	वियतनाम	हनोई
7	2001	ब्रुनेई	बान्दर सेरी बेगावान
8	2002	कम्बोडिया	फनोम पेन्ह
9	2003	इण्डोनेशिया	बाली
10	2004	लाओस	विन्टीयान
11	2005	मलेशिया	कुआलालम्पुर
12	2007 (जनवरी)	फिलिपीन्स	सेबू
13	2007 (नवम्बर)	सिंगापुर	सिंगापुर
14	2009 (मार्च / अप्रैल)	थाईलैण्ड	चा अम हुआहिन / पाटिया
15	2009 (अक्टूबर)	थाईलैण्ड	चा अम हुआहिन
16	2010 (अप्रैल)	वियतनाम	हनोई
17	2010	वियतनाम	हनोई
18	2011 (मई)	इण्डोनेशिया	जकार्ता
19	2011 (नवम्बर)	इण्डोनेशिया	बाली
20	2012 (अप्रैल)	कम्बोडिया	फनोम पेन्ह
21	2012 (नवम्बर)	कम्बोडिया	फनोम पेन्ह
22	2013 अप्रैल	ब्रुनेई	बान्दर सेरी बेगावन
23	2013 अक्टूबर	ब्रुनेई	बान्दर सेरी बेगावन
24	2014 मई	म्यामार	मेहीता
25	2014 नवम्बर	म्यामार	मेहीता
26	2014 अप्रैल	मलेशिया	कुआलालम्पुर / लकावी

अनेक वर्षों से चीन की यह कोशिश रही है कि वह समुद्र में भारत को घेर ले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह 'स्ट्रिंग ऑफ़ पर्ल' अर्थात् 'मोतियों की माला' नीति पर चलता है। 'स्ट्रिंग ऑफ पर्ल्स' का जिक्र अमेरिका के प्रतिरक्षा–विभाग 'पेण्टागन' ने 'एशिया में ऊर्जा का भविष्य' नाम की एक रिपोर्ट में किया था। इस रिपोर्ट में चीन द्वारा समुद्र में तैयार किए जा रही 'मोतियों' का उल्लेख किया गया था। रिपोर्ट में 'मोतियों' से

आशय दक्षिणी चीन सागर से लेकर मलक्का–स्ट्रैट, बंगाल की खाड़ी और अरब की खाड़ी तक सामरिक ठिकाने जैसे बंदरगाह, हवाई पट्टियाँ, निगरानी–अड्डे आदि – स्थापित करने से था। भारत ने चीन की इस नीति का निरंतर प्रतिकार किया है। जून 2015 में बांग्लादेश के साथ हुए सीमा–समझौते में चीन की माला के दो मोती – चिट्टागोंग और मोंगला बंदरगाह भारत ने तोड़ लिए हैं। इस प्रकार भारत ने श्रीलंका से बांग्लादेश तक सागर में स्वयं को काफी हद तक सुरक्षित कर लिया है।

सिंगापुर दक्षिणी–पूर्वी एशिया में भारतीय सहयोग की वृद्धि का एक प्रारंभिक केन्द्र है। सिंगापुर के साथ लुक ईस्ट पॉलिसी अर्थात् पूर्व की तरफ़ ध्यान दो के अन्तर्गत भारत ने तीन व्यापारिक समझौते किए।

2001 ई. में प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी ने वियतनाम और इण्डोनेशिया की यात्रा की, जिसके अच्छे परिणाम प्राप्त हुए। वियतनाम के साथ परमाणु–ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग, व्यापार–वाणिज्य और संस्कृति व कला सम्बंधी मुद्दों पर अनेक द्विपक्षीय समझौते हुए। रक्षा–क्षेत्र में सहयोग का एक महत्त्वपूर्ण समझौता इण्डोनेशिया के साथ सम्पन्न हुआ, जिसका सम्बन्ध नौसैनिक सुविधाओं से था। इससे पहले भारत का इण्डोनेशिया के साथ कोई रक्षा–समझौता कभी हुआ ही नहीं था। 2001 ई. में ही प्रधानमंत्री वाजपेयी ने मलेशिया की यात्रा की, जिसमें तय हुआ कि दोनों देशों के मध्य वर्तमान में जो व्यापार ढ़ाई अरब डालर का है, उसे बढ़ाकर तीन वर्षों में पाँच अरब डालर कर दिया जाएगा।

2002 ई. में वाजपेयी की सिंगापुर यात्रा के दौरान वहाँ के राष्ट्राध्यक्ष गोह चोक तोंग के साथ आतंकवाद, व्यापार, जैव–प्रौद्योगिकी जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर भारत की सहमति बनी। सिंगापुर के पश्चात् वाजपेयी कंबोडिया गए, जहाँ भारत के साथ उसके तीन महत्त्वपूर्ण समझौते हुए। वाजपेयी से पूर्व भारत के किसी प्रधानमंत्री ने कम्बोडिया की यात्रा नहीं की थीं।

दक्षिणी–पूर्वी एशियाई देशों के साथ भारत की बढ़ती समझ का सबसे अच्छा प्रतीक मेकांग–गंगा नामक महत्त्वाकांक्षी परियोजना है। मेकांग–गंगा सहयोग नाम से एक समूह गठित हुआ, जिसमें छह राष्ट्र सम्मिलित थे। भारत व लाओस के अतिरिक्त मेकांग–गंगा समूह के अन्य तटवर्ती राष्ट्र म्याँमार, थाईलैण्ड, कम्बोडिया व वियतनाम इसमें सम्मिलित थे। समूह के पटल पर इसके सदस्य राष्ट्रों के मध्य व्यापार, निवेश, प्रौद्योगिकी, पर्यटन, शिक्षा, संस्कृति आदि विषयों पर सहयोग की एक नई परम्परा प्रारंभ हुई।

2003 ई. में प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी ने फिर आसियान देशों की यात्रा की। वस्तुतः आसियान राष्ट्र वे राष्ट्र हैं, जो दक्षिणी–पूर्वी एशियाई राष्ट्र संघ अर्थात् एसोसिएशन ऑफ़ साउथ–ईस्ट एशियन नेशंस (ASEAN) आसियान नामक समूह के सम्बद्ध हैं। इस संघ के इस समय ये दस राष्ट्र सदस्य हैं – इण्डोनेशिया, मलेशिया, फिलिपींस, सिंगापुर, थाईलैण्ड, ब्रुनेई, वियतमान, लाओस, म्याँमार व कम्बोडिया। शिखर–स्तर के भागीदार राष्ट्रों के रूप में दक्षिणी कोरिया, जापान, चीन और भारत भी आसियान से जुड़े हुए हैं। 1992 ई. में भारत को आसियान में 'सेक्टोरल डायलॉग पार्टनर' व 1995 ई. में 'फुल डायलॉग पार्टनर' का स्थान मिला। 1996 ई. में भारत को आसियान के क्षेत्रीय फोरम का सदस्य बनाया गया।

भारत–आसियान सम्बंधों में एक मील का पत्थर प्रधानमंत्री मनमोहनसिंह के कार्यकाल के दौरान 2004 ई. में स्थापित हुआ, जिसमें दोनों तरफ़ से यह तय किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पाँव पसार रहे आतंकवाद का प्रतिकार सामूहिक रूप से किया जाएगा। इस अवसर पर दोनों पक्षों में यह भी सहमति हुई कि भूमण्डलीकरण का लाभ विकासशील देश ठीक तरह से उठा सकें, इसके लिए विश्व–व्यापार संगठन में मिलकर आवाज़ उठाई जाएगी। समझौते के अन्तर्गत निर्णय हुआ कि दोनों पक्ष मुक्त व्यापार के लिए अधिकतम अनुकूल स्थितियाँ उत्पन्न करेंगे और परस्पर पर्यटन को भी यथोचित बढ़ावा देंगे।

नवम्बर 2014 तक भारत–आसियान शिखर–सम्मेलन की बारह बैठकें हो चुकी हैं और आसियान देशों के साथ सम्बन्ध प्रगाढ़ होने की दिशा में हम निरन्तर प्रगतिशील हैं। म्याँमार में 12वें आसियान–भारत शिखर–सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने लुक ईस्ट पोलिसी (LEP) के स्थान पर एक्ट ईस्ट पोलिसी (AEP) अपनाने का मंत्र देकर दक्षिणी–पश्चिमी एशिया में भारत को स्थाई रूप से प्रतिष्ठित कर दिया है।

स्मरण रहे कि 13वें आसियान–भारत शिखर–सम्मेलन का आयोजन–स्थल कम्बोडिया है।

आ. ब्रिक्स

द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् विश्व में उभरी समूह के रूप में काम करने की प्रवृत्ति ने राजनैतिक दृष्टि से विरोधी चरित्र के राष्ट्रों को भी एक मंच पर लाकर खड़ा कर दिया। विश्व के राष्ट्रों को यह अच्छी तरह से समझ में आ गया था कि जो राष्ट्र राजनैतिक दृष्टि से किसी राष्ट्र का शत्रु या विरोधी है, वह आर्थिक दृष्टि से उसका मित्र या समर्थक भी हो सकता है।

I. पृष्ठभूमि

'ब्रिक्स' वर्तमान में ऐसे राष्ट्रों का समूह है, जिनकी

अर्थव्यवस्था उभार पर है। 'ब्रिक्स' समूह की स्थापना अपने मूल रूप में 2008 ई. में हुई थी। प्रारंभ में इस समूह के सदस्य चार राष्ट्र थे – ब्राज़ील, रूस, भारत और चीन। इन राष्ट्रों के नामों के प्रथम अँगरेज़ी वर्णाक्षरों को जोड़ते हुए समूह का नाम 'ब्रिक' (ठत्प्ब्) प्रचलित हो गया। 2010 ई. में, जब दक्षिणी अफ़्रीका को इस समूह में सम्मिलित किया गया, तो एक और अँगरेज़ी वर्णाक्षर जुड़ जाने के कारण 'ब्रिक्स' (BRICS) हो गया।

ब्रिक्स राष्ट्र–समूह, जो आज आर्थिक मुद्दों को केंद्र में रखकर चलता हुआ दिखाई दे रहा है, ज़रूरी नहीं कि भविष्य में भी वह आर्थिक मुद्दों तक ही सीमित रहे। 'ब्रिक्स' के राष्ट्र आर्थिक विषयों से आगे बढ़कर राजनैतिक मुद्दों पर भी एक राय बनाने की ठोस पहल कर सकते हैं।

ब्रिक्स राष्ट्र–समूह विश्व के 25 प्रतिशत भू–भाग और उसकी 41 प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करता है। 'ब्रिक्स' राष्ट्र–समूह विश्व के तीन महाद्वीपों – एशिया, अफ़्रीका व दक्षिणी अमेरिका तक अपना विस्तार रखता है।

'ब्रिक्स' का विचार सबसे पहले 2001 ई. में अमेरिका की कम्पनी गोल्डमैन सैच में काम करने वाले अर्थवेत्ता जिम ओ नील ने दिया। नील ने कहा कि ब्राजील, रूस, भारत और चीन – इन चार देशों की अर्थव्यवस्था 2050 ई. तक अमेरिका व यूरोपियन यूनियन की अर्थव्यवस्था से बहुत अधिक प्रगति कर जाएगी। यद्यपि नील ने यह नहीं कहा था कि इन चार राष्ट्रों को एक समूह के रूप में संगठित होकर काम करना चाहिए। नील ने तो सिर्फ़ अपने अनुमान प्रस्तुत किए थे। नील के अनुमानों को उनकी नियोक्ता कंपनी गोल्डमैन सैच ने अपनी पहली रिपोर्ट में व्यवस्थित रूप से संसार के समक्ष प्रस्तुत किया।

2007 ई. में कंपनी ने अपनी दूसरी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें भारत की विकास–क्षमता को चमत्कारिक बताया गया। कहा गया कि भारत का विकास तो पूर्व में प्रस्तुत अनुमानों की तुलना में और भी अधिक तेज़ी से होगा, क्योंकि वहाँ मध्यम–वर्ग का लगातार विस्तार होता जा रहा है। रिपोर्ट में कहा गया कि भारत में शोध की गति–प्रगति भी बहुत अच्छी है, इसलिए आने वाले वर्षों में वैश्विक अर्थव्यवस्था में उसकी भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण होगी। कंपनी ने बताया कि विश्व के तेज़ी से आगे बढ़ रहे तीस शहरों में से दस शहर भारत के हैं।

इसके बाद कम्पनी ने 2010 में प्रस्तुत की गई अपनी रिपोर्ट में यह निष्कर्ष दिया कि जहाँ अमेरिका व पश्चिम के अन्य देश आर्थिक संकट से निकल नहीं पा रहे हैं, वहीं भारत और चीन पर इसका अधिक दुष्प्रभाव नहीं पड़ा है। इस निष्कर्ष से ब्रिक्स के राष्ट्र नई आशा के साथ और भी अधिक उत्साह से काम करने लगे।

ii. शिखर–सम्मेलन

'ब्रिक' का प्रथम शिखर–सम्मेलन जून 2009 में रूस के येकैटरिनबर्ग नगर में हुआ। सम्मेलन में चारों देशों का समूह–स्वर एक ही था कि विश्व के आर्थिक, राजनैतिक व सामरिक विषयों के सम्बन्ध में 'ब्रिक' के देश जो भी फ़ैसले लेंगे, वे लोकतांत्रिक दृष्टिकोण से परखकर लिए जाएँगे।

'ब्रिक्स' का दूसरा शिखर–सम्मेलन 2010 ई. में ब्राज़ील की राजधानी ब्राज़ीलिया में सम्पन्न हुआ, जिसमें एक 33 सूत्रीय घोषणा–पत्र स्वीकार किया गया। इस सम्मेलन में सामूहिक हित के अन्य विषयों के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ के सांगठनिक ढाँचे में अपेक्षित सुधार करने का विचार तीव्रता से प्रकट किया गया। इस विचार के पीछे जो मूल भावना काम कर रही थी, वह यह थी कि भारत और ब्राज़ील जैसे संभावना से भरे हुए राष्ट्रों को सुरक्षा–परिषद् में स्थायी सदस्यता मिलनी चाहिए।

'ब्रिक्स' समूह का तीसरा सम्मेलन अप्रैल 2011 में चीन के नगर सान्या में आयोजित हुआ, जिसमें मानव के कल्याण के लिए न्याय व समता पर आधारित अर्थव्यवस्था का विचार केन्द्रीभूत हुआ। सम्मेलन में दोहराया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद्, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक के स्वरूप को और अधिक लोकतन्त्रात्मक बनाया जाना चाहिए। सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों ने एक कार्य–योजना को भी स्वीकृत किया।

'ब्रिक्स' समूह का चतुर्थ शिखर–सम्मेलन मार्च 2012 में भारत की राजधानी नई दिल्ली में सम्पन्न हुआ। सम्मेलन मे विचार–विमर्श का मुख्य आधार यह था कि वैश्विक स्थिरता, सुरक्षा और सम्पन्नता में 'ब्रिक्स' देशों की अधिकतम हिस्सेदारी तय करने की दिशा में संयुक्त प्रयास किए जाने की आवश्यकता है। ब्रिक्स का पाँचवाँ सम्मेलन 2013 ई. में दक्षिणी अफ्रीका में,

छठा 2014 ई. में ब्राज़ील में और सातवाँ 2015 ई. में रूस में आयोजित हुआ। आठवें सम्मेलन का आयोजन–स्थल भारत है।

ब्रिक्स राष्ट्रों के मुखिया – रूस के ब्लादीमीर पुतिन, भारत के नरेंद्र मोदी, ब्राज़ील की डिल्मा रौशेल्फ़, चीन के जी जिनपिंग और दक्षिणी अफ्रीका के जेकब जूमा – जी–20 देशों के सम्मेलन के दौरान आस्ट्रेलिया के ब्रिस्बेन नामक स्थल पर।

I. दिल्ली घोषणा–पत्र

ब्रिक्स राष्ट्र–समूह के चतुर्थ शिखर–सम्मेलन के अंत में इसके सदस्यों द्वारा एक घोषणा–पत्र, जिसे दिल्ली घोषणा–पत्र कहा जाता है, जारी किया गया – जिसके अन्तर्गत विश्व–बाज़ार में विश्वास का वातावरण निर्मित करने व वित्तीय संकट से घिरे देशों के इससे बाहर निकलने के उपायों का उल्लेख किया गया।

दिल्ली 'ब्रिक्स' सम्मेलन की एक उल्लेखनीय उपलब्धि यह भी थी कि सदस्य राष्ट्रों ने एक ऐसे समझौते पर हस्ताक्षर किए, जिसके अनुसार ब्रिक्स राष्ट्र–समूह के देश आपसी व्यापार अपनी स्थानीय मुद्रा में – डालर के बिना भी – कर सकते हैं।

दिल्ली घोषणा–पत्र में दुनिया के विभिन्न राष्ट्रों में तबाही मचा रहे आतंकवाद की भी घोर निन्दा की गई।

दिल्ली घोषणा–पत्र से पूरी तरह स्पष्ट हो गया कि आर्थिक मुद्दों पर तो ब्रिक्स के राष्ट्र अपने हितों के लिए जागरूक है ही, भविष्य में वे राजनैतिक व सामाजिक–सांस्कृतिक विषयों पर भी मुँह बन्द करके नहीं बैठेंगे। घोषणा–पत्र में पश्चिम एशिया में बढ़ रही राजनैतिक अनिश्चितता पर गहरी चिन्ता प्रकट की गई। साथ ही सीरिया में जारी हिंसा और मानवाधिकारों के उल्लंघन की भी चर्चा दिल्ली–सम्मेलन में हुई।

इस प्रकार ज़ाहिर है कि दुनिया के ये पाँच देश – ब्राज़ील, रूस, भारत, चीन व दक्षिण अफ्रीका – जो उभरती हुई अर्थव्यवस्थाओं के देश कहलाते हैं, हर हाल में इस प्रतिस्पर्द्धी युग की चुनौतियों का सामना करते हुए एक मंच पर कार्य करने को तैयार हैं।

इ. दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ : दक्षेस (सार्क)

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व की राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ यह आया कि विभिन्न राष्ट्रों ने क्षेत्रीय सहयोग–संगठनों के रूप में एकबद्ध होकर अपने आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विकास की ओर ध्यान देना प्रारंभ कर दिया। इसी कड़ी में दक्षिणी एशिया के देशों ने भी अपना एक संगठन 'दक्षेस' या 'सार्क' बनाया। 'सार्क' का पूरा नाम 'साउथ एशियन ऐसोसिएशन फ़ॉर रीजनल कोऑपरेशन' है। 'सार्क' को 'दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ' भी कहा जाता है।

I. पृष्ठभूमि

'सार्क' की स्थापना 1985 ई. में बांग्लादेश की राजधानी ढ़ाका में हुई थी, जहाँ दक्षिणी एशिया में सहयोग के मुद्दों पर चर्चा करने के लिए सात देशों के राष्ट्राध्यक्ष आपस में मिले। ये सात राष्ट्राध्यक्ष थे – भारत के प्रधानमंत्री राजीव गाँधी, पाकिस्तान के राष्ट्रपति ज़िआ उल हक़, बांग्लादेश के राष्ट्रपति हुसैन इरशाद, नेपाल के नरेश वीरेंद्र शाह, भूटान के नरेश जिग्मे सिग्ये वाँगचुक, श्रीलंका के राष्ट्रपति जूनियस रिचर्ड जयवर्धने व मालदीव के राष्ट्रपति मौमून गयूम। इन राष्ट्राध्यक्षों ने मिलकर दक्षिणी एशिया में राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग व उन्नयन के लिए 'साउथ एशियन ऐसोसिएशन फ़ॉर रीजनल कोऑपरेशन' नाम का एक संघ गठित करने का निर्णय लिया। अफ़ग़ानिस्तान इस संघ का आठवाँ सदस्य देश है। 'सार्क' के चौदहवें शिखर–सम्मेलन, जो अप्रैल 2007 में नई दिल्ली में आयोजित हुआ था, में अफ़ग़ानिस्तान को सदस्यता प्रदान की गई।

इस संघ की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें ब्रिक्स की तरह अलग–अलग सभ्यता–संस्कृतियों के देशों का मेल नहीं है। यह संघ तो एक जैसी सभ्यता–संस्कृतियों का ही प्रतिनिधित्व करता है। यदि एक बार के लिए 'सार्क' के मानचित्र में से देशों की विभाजन–रेखाओं को मिटा दिया जाए, तो यह निर्णय करना कठिन हो जाए कि पूरे सार्क–क्षेत्र में सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से अन्य क्षेत्रों से अलग कोई क्षेत्र है भी अथवा नहीं है। इसका कारण यह है कि संघ के अधिकतर

सदस्य देश प्रारंभ से ही 'विभिन्नता में एकता' का जो सामाजिक–सांस्कृतिक स्वरूप अपने भू–क्षेत्र में देखते आए हैं, वह स्वरूप संघ के सभी सदस्य देशों में विद्यमान है। यही कारण है कि दक्षिणी एशिया के देशों में पारस्परिक सहयोग का दीर्घ इतिहास रहा है। आधुनिक विश्व में सहयोग की यह परम्परा राजनैतिक कारणों से टूट गई थी, जिसे सार्क के माध्यम से जोड़ने का प्रयास प्रारम्भ किया गया।

'दक्षेस' के चार्टर में दस धाराएँ हैं, जिनमें संघ के उद्देश्य, सिद्धान्त, अंग और वित्तीय व्यवस्थाएँ वर्णित हैं।

ii.'दक्षेस' के उद्देश्य

'दक्षेस' या 'सार्क' के घोषित उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

- दक्षिणी एशिया क्षेत्र के लोगों का कल्याण करना व उनके जीवन–स्तर का उन्नयन करना।
- दक्षिणी एशिया के देशों में सामूहिक आत्मनिर्भरता की भावना का विकास करना।
- दक्षिणी एशियाई क्षेत्र के आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विकास में तेज़ी लाना।
- पारस्परिक विश्वास और समझ के साथ दक्षिण एशिया के देशों की समस्याओं का मूल्यांकन करना।
- अर्थ, समाज, संस्कृति, विज्ञान व प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में संघ के देशों द्वारा एक–दूसरे का सक्रिय सहयोग करना।
- दक्षिणी एशियाई क्षेत्र के देशों के अतिरिक्त जो अन्य विकासशील देश हैं, उनके साथ सहयोग बढ़ाना
- मान हितों के प्रश्न पर अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर एक दूसरे का दृढ़ता से साथ देना।

I. 'दक्षेस' के सिद्धान्त

दक्षेस के चार्टर में इस संघ के सिद्धान्तों को स्पष्ट किया गया है –

- सहयोग, समानता, क्षेत्रीय अखण्डता व राजनैतिक स्वतन्त्रता के आधार पर पारस्परिक हितों का आदर करना और एक–दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना।
- सहयोग का यह रूप न केवल द्विपक्षीय व बहुपक्षीय सहयोग का स्थान लेगा, अपितु उसका पूरक भी होगा।
- सहयोग का यह रूप किसी भी स्थिति में द्विपक्षीय व बहुपक्षीय उत्तरदायित्वों का प्रतिकार करने वाला नहीं होगा।

ii. 'दक्षेस' का सांगठनिक स्वरूप

सार्क' की विभिन्न संस्थाएँ हैं, जो इसके उद्देश्यों व सिद्धान्तों की पूर्ति करने का काम करती हैं। सार्क की सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था है– शिखर–सम्मेलन। पारस्परिक विचार–विमर्श में यह सुनिश्चित हुआ कि शिखर–सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों के मुखिया भाग लेंगे। सार्क के नवम्बर 2014 तक सार्क के अठारह शिखर–सम्मेलन हो चुके हैं। अठारहवाँ शिखर–सम्मेलन नेपाल की राजधानी काठमाँडू में सम्पन्न हुआ था। उन्नीसवें सम्मेलन का आयोजन–स्थल पाकिस्तान की राजधानी इस्लामाबाद है।

सार्क के वार्षिक शिखर–सम्मेलन

क्रम	वर्ष	देश (नगर)
1	1985	बाँग्लादेष (ढाका)
2	1986	भारत (बंगलुरु)
3	1987	नेपाल (काठमाण्डू)
4	1988	पाकिस्तान (इस्लामाबाद)
5	1990	मालदीव (माले)
6	1991	श्रीलंका (कोलम्बो)
7	1993	बाँग्लादेष (ढाका)
8	1995	भारत (नई दिल्ली)
9	1997	मालदीव (माले)
10	1998	श्रीलंका (कोलम्बो)
11	2002	नेपाल (काठमाण्डू)
12	2004	पाकिस्तान (इस्लामाबाद)
13	2005	बाँग्लादेष (ढाका)
14	2007	भारत (नई दिल्ली)
15	2008	श्रीलंका (कोलम्बो)
16	2010	भूटान (थिम्पू)
17	2011	मालदीप (अड्डु सीटी)
18	2014	नेपाल (काठमाण्डू)
19	2016	पाकिस्तान (इस्लामाबाद)

शिखर–सम्मेलन के अतिरिक्त सार्क की अन्य संस्थाएँ हैं – मंत्री–परिषद, स्थायी समिति, तकनीकी समितियाँ, कार्यकारी समिति और सचिवालय। 'सार्क' का सचिवालय स्थायी रूप से नेपाल की राजधानी काठमाँडू में स्थित है। सचिवालय में 'सार्क' के महासचिव का कार्यालय है। महासचिव का कार्यकाल दो वर्ष का निर्धारित किया गया है और उसकी

नियुक्ति प्रत्येक सदस्य देश द्वारा उसके क्रम के अनुसार की जाती है। वर्ष 1986–87, 1996–97 व 2007–08 ई. में भारत के पास सार्क की प्रधानता थी। ध्यान रहे कि सार्क सचिवालय का ख़र्च चलाने में सर्वाधिक योगदान हमारे देश भारत का है।

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के शपथ–ग्रहण–समारोह में उपस्थित सार्क राष्ट्रों के मुखिया

iii.भारत की भूमिका

दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क) में भारत की सक्रियता इसकी स्थापना से ही बनी हुई है। 1991 ई. में हुए कोलम्बो शिखर–सम्मेलन की भावना के अनुरूप 1992 ई. में पर्यावरण जैसे महत्त्पूर्ण विषय पर सार्क देशों की मंत्री–स्तर की बैठक नई दिल्ली में आयोजित की गई। नई दिल्ली में ही 1996 ई. में प्रथम सार्क व्यापार मेला सम्मन्न हुआ। इसी वर्ष भारत ने सार्क का 'आर्थिक सहयोग सम्मेलन' व 'प्रौढ़ तथा अनवरत शिक्षा पर सहयोग सम्मेलन' आयोजित करवाया। 1998 ई. में सीमा–शुल्क सम्बन्धी सार्क समूह की तीसरी बैठक आयोजित की गई थी। 1998 ई. में ही पुणे में बहुभाषिक व बहुमाध्यमी सूचना प्रौद्योगिकी पर एक सम्मेलन आयोजित किया गया था।

जनवरी 2002 में नेपाल शिखर–सम्मेलन के दौरान भारत और पाकिस्तान के कूटनीतिक सम्बन्ध अत्यन्त तनावपूर्ण थे। उस समय प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी ने सम्मेलन को दिशा प्रदान करते हुए कहा था कि सार्क में आर्थिक एजेण्डा को सबसे ऊपर रखा जाना चाहिए। जनवरी 2004 में पाकिस्तान में आयोजित शिखर–सम्मेलन में आर्थिक एजेण्डा को गतिमान करने के लिए वाजपेयी ने एक छह सूत्री ठोस कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया। इसी कार्यक्रम में उनका वह क्रांतिकारी प्रस्ताव शामिल था, जिसके अन्तर्गत कहा गया था कि 1857 ई. के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का 150वाँ वर्ष भारत, पाकिस्तान व बांग्लादेश द्वारा संयुक्त रूप से मनाया जाए। सार्क राष्ट्रों के बीच जनवरी 2006 में एक स्वतंत्र व्यापार समझौता 'साफ़्टा' – साउथ एशियन फ्री ट्रेड एरिया – सम्पन्न हुआ, जो दक्षिण एशिया के इतिहास की एक युगान्तरकारी घटना है। यह भी निश्चय हुआ कि सदस्य राष्ट्रों के मध्य आपसी व्यापार में प्रशुल्क स्तर को 2016 ई. तक पाँच प्रतिशत घटा लिया जाएगा। अप्रैल 2007 में 'सार्क' का चौदहवाँ शिखर–सम्मेलन नई दिल्ली में आयोजित हुआ। सम्मेलन में भारत ने क्षेत्र के अल्प विकसित देशों के लिए पारस्परिक व्यापार–शुल्क में छूट की एकपक्षीय घोषणा करके एक बार फिर स्वयं का बड़ा भाई होना सिद्ध किया। निश्चय ही दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संघ (दक्षेस), जो 'सार्क' नाम से अधिक प्रसिद्ध है, क्षेत्रीय संघों के इतिहास में आधुनिक राजनीति का एक कीर्तिस्तंभ है। आशा की जानी चाहिए कि भविष्य में दक्षिण एशिया के वासियों को अधिक सुखी व शांत जीवन जीने का अवसर मिलेगा।

2014 ई. में भारत के प्रधानमंत्री बने नरेन्द्र मोदी ने नई दिल्ली में अपने शपथ–ग्रहण–समारोह में सार्क देशों के राष्ट्राध्यक्षों को आमंत्रित करके इस संगठन को एक नई ऊँचाई प्रदान की है। सार्क देशों के राष्ट्राध्यक्षों द्वारा मोदी का निमंत्रण स्वीकार लेने से विश्व में यह संदेश गया कि दक्षिणी एशिया के देशों में सहमति के कतिपय बिंदुओं पर पहुँचने की क्षमता विद्यमान है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत की वैश्विक दृष्टि दूरगामी है और विश्व में इसका स्वर अत्यधिक ध्यान से सुना जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के विश्व में अब तक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा कोई अवसर नहीं आया है, जब भारत की उपेक्षा हुई हो। हाँ, प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी व अटलबिहारी वाजपेयी के काल में जब हमने परमाणु–परीक्षण किए – तब हमें कुछ अलग ढंग से देखा गया, लेकिन शीघ्र ही भारत अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पुनः अपनी पूर्व स्थिति में आ गया। अब तो स्थिति यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत एक देदीप्यमान सितारे की तरह चमक रहा है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

अ. अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. प्रथम विश्व–युद्ध के फलस्वरूप विश्व–शांति के लिए कौनसी अंतरराष्ट्रीय संस्था की स्थापना हुई?
2. शीत–युद्ध कौन–कौनसी दो महाशक्तियों के मध्य हुआ?
3. अमेरिका के लेखक–पत्रकार वाल्टर लिपमैन ने कौनसी पुस्तक लिखी?
4. फुल्टन में किसने कहा कि दुनिया में स्वतंत्रता की लौ

जलाए रखने और ईसाई सभ्यता की रक्षा करने के लिए ब्रिटिश–अमेरिकी सहयोग की तीव्र आवश्यकता है?
5. रियो दी जेनेरियो में पर्यावरण–संरक्षण से सम्बंधित पृथ्वी–सम्मेलन किस ईस्वी वर्ष में हुआ?
6. किसने कहा कि कि किसी आतंकवादी को उसके तात्कालिक लक्ष्य के सन्दर्भ में ठीक तरह से परिभाषित किया जा सकता है?
7. गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सत्रहवें शिखर–सम्मेलन का आयोजन–स्थल कौनसा देश है?
8. 'ब्रिक्स' राष्ट्र–समूह के पाँच सदस्य राष्ट्र कौन–कौनसे हैं?
9. बारहवें आसिया–भारत शिखर–सम्मेलन में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने 'लुक ईस्ट पॉलिसी' को अब कौनसी पॉलिसी बनाने का आग्रह किया है?
10. सार्क का आठवाँ सदस्य कौनसा राष्ट्र बना?

आ. लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. शीत–युद्ध से आप क्या समझते हैं?
2. ऋग्वेद के दसवें मण्डल का वह मंत्र लिखिए, जिसमें कहा गया है कि अकेला खाने वाला पापी होता है।
3. किन्हीं दस राष्ट्रों के नाम लिखिए, जिनका निर्माण सोवियत संघ के विखण्डन के फलस्वरूप हुआ।
4. गुट–निरपेक्ष आंदोलन का दसवाँ, ग्यारहवाँ, तेरहवाँ, चौदहवाँ और सोलहवाँ शिखर–सम्मेलन कब व कहाँ हुआ?
5. भारत एक गुट–निरपेक्ष राष्ट्र है, फिर भी सोवियत रूस के विखण्डन तक इसका झुकाव सोवियत संघ की तरफ़ रहा। बताइए क्यों?
6. पूँजीवाद व साम्यवाद में मूलभूत अंतर क्या है?तर्क सहित बताइए।
7. सीटीबीटी से आप क्या समझते हैं? सीटीबीटी का पूरा नाम लिखिए।
8. एजेण्डा 21 के बारे में आप क्या जानते हैं?संदर्भ सहित बताइए।
9. देशों के वैदेशिक सम्बंधों के संदर्भ में मोदी–प्रयोग का मूल तत्त्व क्या है?
10. आतंकवाद के आधुनिक व संस्थागत रूप से आप क्या समझते हैं?

इ. निबंधात्मक प्रश्न

1. विभिन्न चरणों का वर्णन करते हुए शीत–युद्ध की प्रमुख घटनाएँ बताइए।
2. वे कौनसी परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण गुट–निरपेक्ष आंदोलन प्रारम्भ हुआ?
3. इतिहास के अंत का सिद्धांत किसने दिया?तर्क सहित बताइए कि यह सिद्धांत अप्रासंगिक सिद्ध क्यों हुआ?
4. रियो डी जेनेरियो सम्मेलन 1992 में पर्यावरण–संरक्षण से सम्बंधित किन विषयों पर विचार–विमर्श हुआ?
5. आतंकवाद को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से मुख्य रूप से कौन–कौन से कन्वेंशन्स प्रस्तुत किए गए? विस्तार से बताइए।
6. सार्क के उद्देश्यों और सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
7. क्या आप मानते हैं कि भारत विश्व–शांति का अग्रदूत है? कारण सहित उत्तर दीजिए।